लाल बहादुर शास्त्री

सुनील शास्त्री

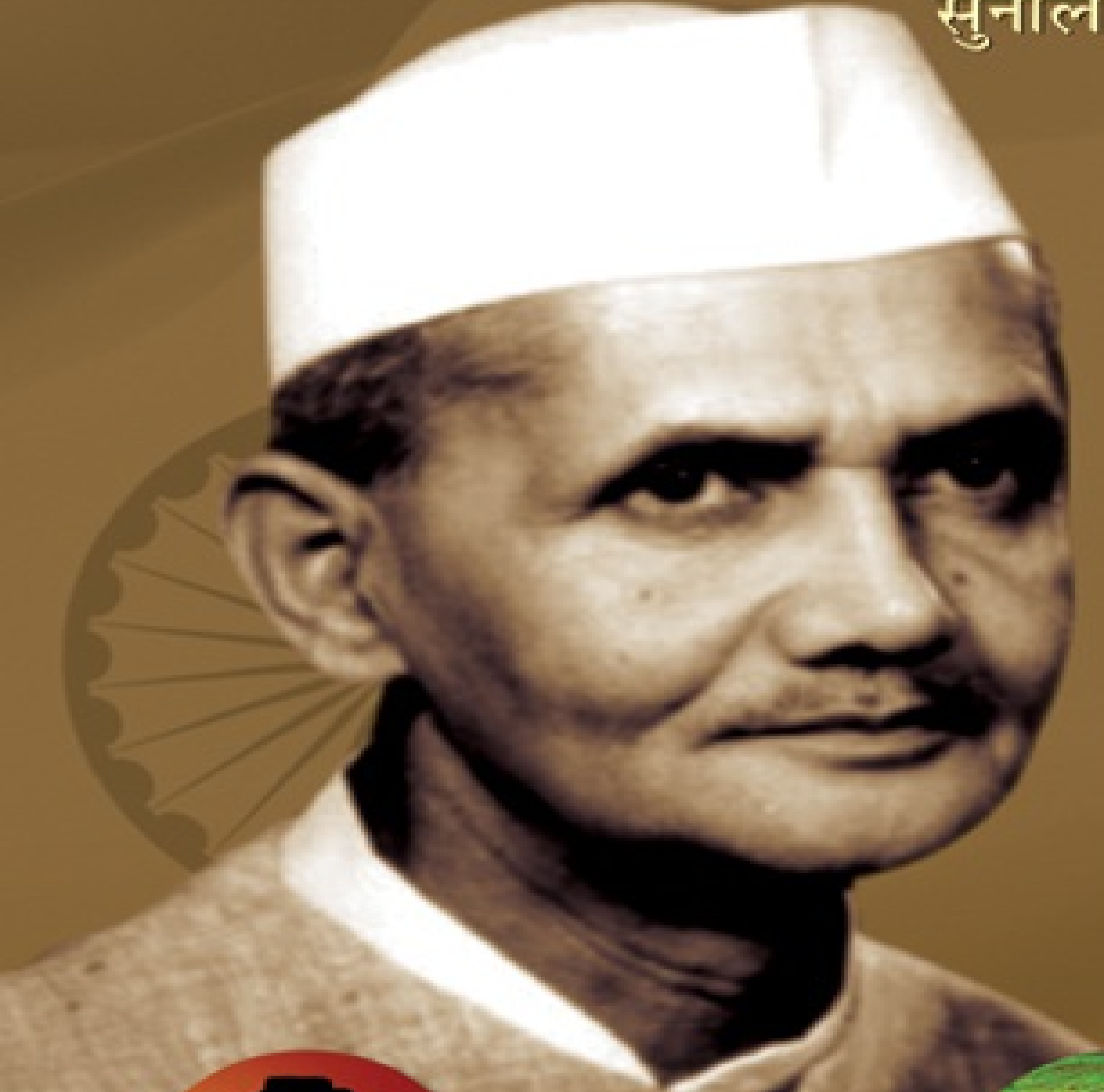

जय जवान

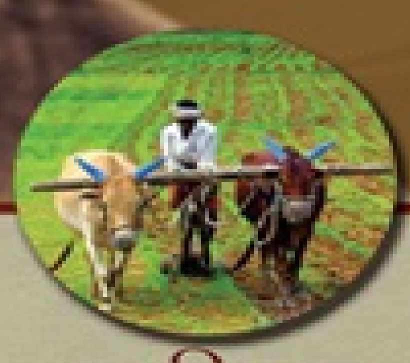

जय किसान

लाल बहादुर शास्त्री

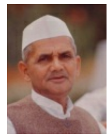

सुनील शास्त्री

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

समर्पित,
भारत के जवानों
और किसानों को

आमुख

मुझे लाल बहादुर शास्त्री के बारे में उस समय मालूम हुआ जब वे 1964 में प्रधानमंत्री बने। लेकिन 1965 के भारत-पाकिस्तान युद्ध के ठीक पहले और उसके दौरान मैंने उनके बारे में बहुत कुछ जाना। उन्होंने और तत्कालीन रक्षा मंत्री वाई.बी. चह्वाण ने राजनैतिक फैसले लेने के लिए एक प्रभावशाली टीम बनाई थी। वे लोग राजनैतिक फैसलों को कार्यान्वित करने के लिए हमसे प्राय: चर्चा किया करते थे। उनके आवास पर भी मैंने उनसे कई बार मुलाकात की थी और पाकिस्तान के साथ युद्ध छिड़ने की स्थिति में वायु सेना की व्यापक योजनाओं के बारे में चर्चा की थी।

बातचीत के दौरान मैंने पाया कि उनके तर्क स्पष्ट हैं। वे मेरे विचारों को दोस्ताना माहौल में बिना किसी टोका-टाकी के धैर्य से सुनते थे। शास्त्रीजी बहुत सादगी से रहते थे और एक छोटे ऑफिस में टेबल के पास नंगे पैर बैठकर चर्चा किया करते थे। वे सचमुच विनम्र थे और मुझे पोर्च तक विदा करने के लिए आते थे। अगर कभी बातचीत करते हुए देर हो जाया करती थी तो वे क्षमा-याचना करते थे। सन् 1965 की लड़ाई के दौरान शास्त्रीजी रोज थल सेनाध्यक्ष और मुझसे मिलते थे। कभी-कभी कैबिनेट की रक्षा समिति में भी चर्चा होती थी।

सन् 1965 की लड़ाई शांति और युद्ध में उनके नेतृत्व की असली परीक्षा थी। और मेरे खयाल से वे इस परीक्षा में खरे उतरे। उन्होंने विशेष मानक तय किए थे, जसके भीतर रहते हुए सशस्त्र बलों को लड़ाई लड़नी थी। जहाँ तक वायु सेना का सवाल था, उन्होंने स्पष्ट कहा कि नागरिकों पर हमला करने से बचना चाहिए, लेकिन सैन्य ठिकानों को निशाना बनाने से नहीं चूकना चाहिए। उसके बाद उन्होंने किसी भी सैन्य ऑपरेशन में हस्तक्षेप नहीं किया। जब मैं कोई स्पष्टीकरण चाहता था, तभी वे अपनी राय देते थे।

सुनील शास्त्री खुद अपनी कहानी के जरिए अपने पिता लाल बहादुर शास्त्री की जीवनी कहते हैं। इस तरह यह पुस्तक टू-इन-वन, यानी जीवनी के भीतरी जीवनी बन गई है। सोलह साल के बालक से लेकर परिपक्व राजनीतिज्ञ बनने तक सुनील के विकास की कहानी उनके पिता की कहानी के साथ गुँथी हुई है, जिन्होंने अपने जीवन में गांधीवादी मूल्यों को उतारा। पुस्तक में स्वतंत्रता सेनानी के रूप में शास्त्रीजी के शुरुआती जीवन से लेकर प्रधानमंत्री के रूप में उनके बाद के वर्षों की झलक मिलती है। शास्त्रीजी के जीवन की कहानी के जरिए भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन से लेकर 1965 में पाकिस्तान के साथ स्वतंत्र भारत की लड़ाई तक के भारतीय इतिहास को लिपिबद्ध किया गया है। साथ ही इसमें ईमानदारी, सादगी और सच्चाई के गांधीवादी मूल्यों पर जोर दिया गया है।

सुनील ने अपनी इस पुस्तक के जरिए अपने पिता को श्रद्धांजलि दी है। उन्होंने अपने जीवन के शुरुआती अविस्मरणीय वर्ष उन्हीं के साथ बिताए थे। सुनील ने मात्र 16 साल की उम्र में अपने बाबूजी को खो दिया, लेकिन तब तक उन्हें देश के गरीबों और पीड़ितों के लिए बिना किसी स्वार्थ के काम करने की विरासत उत्तराधिकार के रूप में मिल चुकी थी। शास्त्रीजी पूरी तरह से सज्जन पुरुष थे, लेकिन उन्होंने अपने पुत्र से एक दृढ़ अनुरोध किया था-भारत के दूरदराज के गाँवों में जाकर आदिवासियों और ग्रामीणों की भीषण गरीबी महसूस करना। यह अपने पुत्र से लिया गया शास्त्रीजी का अंतिम वचन साबित हुआ। शास्त्रीजी दरअसल यह चाहते थे कि उनके पुत्र को यथार्थ भारत की सही तसवीर देखने को मिले, जो शहरों में नहीं, बल्कि गाँवों और दूरदराज के क्षेत्रों में बसता है। गाँवों तथा दूरदराज के क्षेत्रों में घूमने के दौरान सुनील ने एक अनदेखे भारत को देखा, और इससे द्रवित होकर उन्होंने अपना जीवन गरीबों के कल्याण के लिए समर्पित कर दिया। पिता ने पुत्र को मानव जाति की निस्स्वार्थ सेवा के मूल्यों की शिक्षा अनूठे तरीके से दी थी। पुत्र ने इस पुस्तक के माध्यम से इसके लिए पिता के प्रति कृतज्ञता व्यक्त

की है।

सुनील अपने जीवन में आए हर संकट के क्षणों में पिता के मार्गनिर्देशों के प्रभाव की बात करते हैं। पुस्तक में हमें शास्त्रीजी के जीवन की तसवीर दिखाई गई है। इसमें यह बताया गया है कि वे जनता के नेता और जनता के प्रधानमंत्री थे। शास्त्रीजी की अनुकरणीय विनम्रता और मानवजाति के दु:ख-दर्द को समझने की उनकी असाधारण क्षमता की बेटे पर अमिट छाप पड़ी। सुनील अपने पिता को उनकी विभिन्न भूमिकाओं में याद करते हैं—सज्जन पति, ध्यान रखनेवाला पिता, संवेदनशील नेता, मजबूत एवं दृढ़ निश्चयी प्रधानमंत्री और इससे भी बढ़कर गांधीवादी सिद्धांतों पर चलने वाला व्यक्ति, जो एक सामान्य परिवार से निकलकर देश के सर्वोच्च पद पर पहुँच गया।

सीधी-सादी लेकिन प्रभावशाली भाषा में लिखी गई इस पुस्तक में सुनील पिता-पुत्र संबंधों की बात करते हैं, जिसे उनकी माँ ने जीवित रखा। सादगीपूर्ण और संयमित जीवन जीने वाले शास्त्रीजी से प्रेरणा लेने के लिए यह पुस्तक जरूर पढ़नी चाहिए, खासकर उदारीकरण के बाद के जमाने के युवकों को। शास्त्रीजी का जीवन दरअसल उनके द्वारा भारत और उसके मूल्यों की पुनर्खोज है।

—एयर चीफ मार्शल अर्जन सिंह
डी.एफ.सी.

पुनश्च

मैंने अपने पूज्य बाबूजी श्री लाल बहादुर शास्त्री पर शुरू में जो पुस्तक लिखी थी, यह उसका संशोधित संस्करण है। लगभग 25 साल पहले लिखी अपनी पुस्तक को फिर से पढ़ने और उसे दोबारा लिखने के विशेषाधिकार के दो कारण हैं: पहला, संतुष्टि की भावना और दूसरा, गर्व की अनुभूति। लेकिन एक तीसरा कारण भी है। वह यह कि शुरू के संस्करण में कई बातें छूट गई थीं। इसलिए मैं शुरू के संस्करण को दोबारा लिखने, बदलने और संशोधित करने के लिए प्रेरित हुआ। मुझे पक्का विश्वास है कि एक लंबे समय के अंतराल के बाद इस तरह के संशोधन के सकारात्मक नतीजे निकलेंगे।

ताशकंद घोषणा-पत्र पर दस्तखत करने के एक दिन बाद, जिसने भारत और पाकिस्तान के बीच शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए रास्ता साफ कर दिया, हृदय गति रुकने से बाबूजी की मृत्यु हो गई। वे एकमात्र भारतीय प्रधानमंत्री थे, जो अपने पद पर रहते हुए एक विदेशी सरकार के राजकीय अतिथि के रूप में स्वर्गवासी हुए। बाबूजी सही मायने में देशभक्त-नायक थे, जिन्होंने पाकिस्तान को लड़ाई में पराजित करने के बाद दोनों राष्ट्रों के बीच शांति की पहल की। लेकिन जब देश उन्हें मजबूत भारत के शांति के मसीहा के रूप में देख रहा था, वे अचानक चल बसे। समूचे विश्व ने इस महान् आदमी को श्रद्धांजलि देते हुए कहा, ''वे अप्रत्याशित तरीके से सत्ता में आए और उतने ही अप्रत्याशित तरीके से दुनिया छोड़कर चले गए। लाल बहादुर शास्त्री भारत के इतिहास के चमकदार सितारे थे।''

मैंने यह पुस्तक अपने माता-पिता को समर्पित की है, जिन्होंने मुझे अपनी छवि के अनुरूप ढाला। मैं अम्मा के बिना बाबूजी के बारे में सोच नहीं सकता। आज मैं जो कुछ भी हूँ, अपने माता-पिता की बदौलत हूँ। उन्होंने मुझमें जीवन के गांधीवादी मूल्यों, यानी सादगी, ईमानदारी और राष्ट्र की स्वार्थहीन सेवा की भावना का संचार किया। इस पुस्तक के माध्यम से मैं अपने पाठकों को-चाहे वे युवा हों या बुजुर्ग-उस पवित्र रिश्ते के बारे में बताना चाहता हूँ, जो माता-पिता और उनके बच्चों को आपस में बाँधे रखता है।

मैंने इस पुस्तक के जरिए देश के उन लाखों युवक-युवतियों को संबोधित किया है, जिन्हें सादगीपूर्ण जीवन की विशेषताओं के बारे में नहीं मालूम। गांधीजी ने खुद सादगीपूर्ण जीवन जिया और अपने अनुयायियों को इस तरह का जीवन जीने के लिए प्रेरित किया। बाबूजी यानी मेरे पिताजी ने भी वैसा ही जीवन जिया, जैसाकि वे अपने साथी भारतीयों से उम्मीद करते थे। वे उपदेश नहीं देते थे, बल्कि एक सच्चे मनुष्य की तरह ऐसा सीधा-सादा जीवन जीते थे, जिसे उनके संपर्क में आने वाला व्यक्ति आसानी से अपना सकता था। पुत्र, पति, पिता, स्वार्थहीन समाज-सेवक, प्रतिबद्ध एवं संवेदनशील नेता, सशक्त, दृढ़ एवं भद्र प्रधानमंत्री की अपनी भूमिकाओं में उन्होंने साबित कर दिखाया कि वे महान् व्यक्ति थे। अम्मा उनकी प्रतिमूर्ति थीं—विनम्र, भद्र, सशक्त, अनात्मशंसी और पीड़ित मानवता के प्रति सहानुभूति रखने वालीं। बाबूजी की तरह अम्मा ने भी पत्नी, माँ, बहू और राष्ट्र की प्रथम महिला के रूप में अपनी विभिन्न भूमिकाओं का निर्वाह बहुत अच्छी तरह किया।

इस पुस्तक को दोबारा लिखने का मेरा उद्देश्य अपने पिता को देवता बनाना नहीं है। मैं नहीं चाहता कि पाठक मेरे पिता को देवता के रूप में देखें। मैं चाहता हूँ कि वे उन्हें मजबूत और आत्मनिर्भर भारत के निर्माता के रूप में देखें। मेरे पिता अपने पीछे सुरुचिपूर्ण सादगी की विरासत छोड़ गए हैं, जिसे वर्तमान शताब्दी में भुला दिया गया है। बाबूजी की विशेषता यह थी कि वे आम जनता के आदमी थे। भारत के सामान्य लोगों के साथ उनका मजबूत संबंध था। बदकिस्मती से उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण का दौर आने के बाद शहरी क्षेत्रों में रहने वाला

हमारा युवा शिक्षित अभिजात वर्ग समतावादी पूँजीवाद की छद्‍म अवधारणा की वकालत करता रहा है। समतावादी पूँजीवाद केवल स्वार्थ, पैसे, ग्लैमर और चमक-दमक को बढ़ावा देता है, जिसके कारण हमारे समाज में धनी और गरीब लोगों के बीच खाई चौड़ी हुई है। मेरे विचार से, प्रत्यक्ष असमतावाद के सादगीपूर्ण जीवन-मूल्यों को समझने और ग्रहण करने से ही रोका जा सकता है। इस तरह, पर्याप्त संसाधनों की बचत होगी, जिससे हमारे देश के लाखों गरीब लोगों की जरूरतें पूरी हो सकेंगी।

अपने पिता की विरासत के योग्य उत्तराधिकारी के रूप में मैं यह पुस्तक अपने देशवासियों को समर्पित करता हूँ। टालस्टाय ने कहा था—''लाखों लोगों के संकल्प और उनकी आकांक्षाओं से ही इतिहास बदलता है।'' बाबूजी के विचारों, मूल्यों और आदर्शों पर लिखी मेरी यह पुस्तक यदि हम भारत के लोगों की सामूहिक नियति को बना सके तो मैं अपने को धन्य और गौरवान्वित महसूस करूँगा।

—सुनील शास्त्री

मैं स्वयं भी मानता हूँ कि हमारी जनता में उत्साह और लगन है और हमारे लोग देश को मजबूत बनाने के लिए बड़ी से बड़ी कुरबानी करने के लिए हमेशा तैयार हैं। मेरी यह मान्यता कभी-कभी मेरे पैरों तले की जमीन खींच लेती है और मुझे लगता है कि जो भार मुझे मेरे कंधे पर जनता ने दिया है, उसे निभाने के लिए मुझे जो माहौल चाहिए, वह नहीं मिल पा रहा। इस माहौल को अपने काम के माकूल बनाने के लिए मुझे कितना सारा समय, कितनी सारी ताकत खर्च करनी पड़ती है—उससे मन उचाट हो गया। मेरा यह उचाट मन जो घुटन महसूस करता है —प्रश्न करता हूँ कि क्या यह आज की सक्रिय राजनीति की देन है?

बिना सक्रिय राजनीति को गले में बाँधे आज यह अंदाज नहीं लगाया जा सकता कि किसकिस तरह की अजूबी और अनोखी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। किस तरह अपने मन की परतों तले अपने आप में हजारों चीजें, हजारों इच्छाओं को दबाकर रखना पड़ता है। इस सबसे जो घुटन मन में उठती है, जो मंथन होता है, तब डर लगता है कि कहीं वह अपने को पलायनवादी न बना दे—फलस्वरूप जूझने के लिए कमर कसनी पड़ती है। उस सबके बावजूद एक जीवंत जीवन जीना लोहे के चने चबाना जैसा है, फिर भी आप उफ नहीं कर सकते और आज की राजनीति में मुँह भी नहीं खोल सकते, कलेजा खोलने, मन बाँटने की बात तो बहुत दूर की है। परिस्थितियाँ कभी शेर हो जाती हैं और उत्साह में आप उस पर सवारी कर तो बैठते हैं पर नहीं जानते कि उतरा कैसे जाए? उस समय याद आती हैं बुजुर्गों की बातें, घर की बीती घटनाएँ। इंदिराजी के साथ बिताए गए क्षण, वे ही सब रास्ता बताते हैं। आपातकाल के दौरान इंदिराजी को भी महसूस हुआ था कि अचानक एक खूँखार शेर की सवारी उन्होंने कर डाली है और परेशानियाँ इतनी बढ़ गईं कि उस सवारी से उतरने का रास्ता नहीं दिखता। लेकिन शेर पर चढ़ने वाला शेर से कहीं अधिक अक्लमंद होता है और वह अपने बुद्धि विश्वास के बल पर सच का सहारा ले सफल होता है। वह उदाहरण बल देता है।

मन का सच एक अनोखी नियामत है जो केवल इनसान के बूते की बात है। वह कोरा नितांत आत्मसच ही होता है, जिससे आपको बल मिलता है। इस बल को पाने के लिए जूझना पड़ता है और उस जुझारू लड़ाई में आपके काम आते हैं आपके आदर्श, आपका संकल्प और आपकी शुचिता और सौभाग्य से ये तीनों मुझे बाबूजी से, मेरी माँ से और इंदिराजी से विरासत में मिली हैं। इनके बल पर ही मैंने कितने ही मसले हल किए हैं और हमेशा अपने को साधारण जनमानस के निकट पाया है। मेरी शक्ति ही वह जनमानस है, जिनके बीच मैं बारबार जाता हूँ और उनका स्नेह, प्यार, उनका सौहार्द ही मुझे आज तक इस स्थिति में ले आया है जहाँ मैं हूँ।

लेकिन दु:ख हुआ—एक इतने बड़े प्रदेश का एक वरिष्ठ मंत्री पद सँभालते हुए भी मैं वह करने के लिए स्वतंत्र नहीं रह गया, जो जनमानस की भलाई के लिए था। वह सारी कल्पनाएँ, जिसके लिए मैं ठोकपीटकर बनाया गया, वे सारी मर्यादाएँ, जो मेरे जीवन को सँवारतीसजाती हैं, उन पर प्रतिबंध एक आत्मचुनौती की तरह सामने आ खड़ा हुआ। जितने बड़े प्रश्न होते हैं, उतना ही बड़ा जोखिम आपको उठाना पड़ता है और वह आप ही हैं कि आप उस जोखिम से उबरते हैं। कोशिश मेरी भी यही है।

जनवरी सन् 1987 से सक्रिय राजनीति में बरसों रहने के बाद यह महसूस होने लगा कि वर्तमान समय मेरी मन:स्थिति के बिलकुल विपरीत होता जा रहा है। जिस आँच और लोहे का मैं बना हूँ, उसे कम करने की, उसे दबाने की, बदलने की कोशिश की जा रही है। राजनैतिक हस्तक्षेप, पलपल पर बाहरी दबाव—सबकुछ मुझे तोड़ने की सक्रिय साजिश जैसा ही है। मुझे एक ऐसी घुटन की अवस्था में डाला जा रहा है, जहाँ से मेरे सारे राजनैतिक जीवन की ही इतिश्री हो जाए। मैंने कभी भी तोड़जोड़ की प्रकृति का मानस नहीं चुना। हमेशा मेरा जीवन रचनात्मकता की ओर ही उन्मुक्त हुआ है। ऐसी स्थिति के तहत लगभग छहसात महीने जिस सड़ाँध और गिलगिली

राजनीति से परिचित हुआ, उससे मुक्ति पाने का एक ही रास्ता सामने आया और वह आया 20 जुलाई, 1987 को।

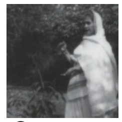

मैंने अपने मुख्यमंत्री को, जो कि जीवन के इस क्षणिक नाटक के मुख्य पात्र, सूत्रधार, जो भी आप कहें, उनको अपना इस्तीफा पेश कर दिया कि मैं उन सबका सहभागी नहीं हो सकता, जो मेरी मानस, मेरी प्रकृति और आत्मसत्य के खिलाफ है।

यहाँ तक पहुँचने की कहानी तो आपको आगे चलकर मालूम हो जाएगी, लेकिन यहाँ अभी केवल इतना ही कि —

चैकबुक के पन्ने
पीले हों या लाल
हर सच्चा इनसान
बिकाऊ नहीं है!

ये पंक्तियाँ जाने कब कहाँ पढ़ी थीं। पर मेरा मन उस कवि के प्रति समर्पित हो उठा। अपनी माँ को कैसे समझाऊँ, अपने भाई को कैसे अपने मन का अंश पेश करूँ, जहाँ मैंने बाबूजी की दी धरोहर सहेज रखी है। राजनीति से अलग होकर राजनीति में पगे और पले होने के कारण याद आए पिछले कुछ दिन, जो इस तरह से मानसपटल पर गुजरे, क्योंकि अपनी सारी स्वतंत्रता, सारी छूट और शुचिता के बावजूद आपको स्वीकार करना होगा कि जीवन के कितने ही पल, कितने ही निर्णय आपके बस के नहीं होते। उनमें आपका, आपकी स्थिति का, आपके परिवेश का बहुत बड़ा हाथ होता है, जो आपके लिए रास्ता तय करता है।

आपको बताऊँ, मेरा नाम सुनील है। वह एक कहानी है, जिसे विधाता ने मेरे हाड़मांस के ऊपर लिख छोड़ा है।

मुझे उस दिन बड़ा ही अचंभा हुआ, जब मैंने अपने लखनऊ के मकान में उस आदमी को देखा, जिसे मैं अकसर, अपने घर के बाहर फाटक के अंदर आतेजाते अनायास सड़क पर जबतब देखा करता था।

वह अधिक उम्र का व्यक्ति एक बोटीवाला, जाड़ागरमीबरसात में, जाने जबतब मुझे दिख जाया करता था। वह अपनी एक बहुत ही पुरानी साईकिल पर दूध की भारीभरकम बाल्टियाँ लटकाए मेरे घर के सामने से गुजरता और उसे देख मैं सोचता : यह उम्र इसकी इस तरह कठिन जिंदगी बिताने की तो नहीं है। पर जरूर कोईनकोई फाँसी का फंदा अभी भी इसके गले में पड़ा है, जो इसे इस तरह की मेहनत और मशक्कत करने को मजबूर करता है! और वह है कि जब भी मुझसे दोचार होता है, चाहे मैं मोटर में हूँ या कि पैदल घूमने निकला हूँ, उसको पाता हूँ, वह उलटकर मुझे देखता है और मैं एक जोड़, एक लगाव, एक अनोखा अपनापन महसूस करता हूँ। क्यों करता हूँ, मन सवाल करता है?

उन दिनों माँ की आँख का ऑपरेशन हुआ था। वे मेरे साथ लखनऊ में थीं। एक दिन मैं सुबह ऑफिस के लिए निकल ही रहा था कि आँगन में वह वही दूधवाला खड़ा दिखा। उसके हाथ में कटोरा था। उसके हाथ से कटोरा लेते हुए अम्मा उससे बात कर रही हैं। मैं अम्मा की बात सुनने और मेरी उपस्थिति से दखलंदाजी न हो, मैं आड़ में हो गया।

सुनता हूँ, वह अम्मा से कह रहा है—आपकी आँख के ऑपरेशन की बात सुन, सोचा आपको अपने हाथों बना घी और मक्खन दे आऊँ। आपकी आँखों को फायदा करेगा। आप जल्दीसेजल्दी अच्छी हो जाएँ—यही सोचकर मैं आयाहूँ।

मेरा मन भर आया। निष्काम कर्म की इससे अधिक और क्या व्याख्या हो सकती है। और देना, भेंट देना इससे अधिक उपयुक्त क्या हो सकती है!

प्रश्न उठ पड़ा था—यह रहस्यमय व्यक्ति है कौन? जो अनजाने में अपनी शक्ति, अपनी कड़ी मेहनत, अपनी लगन के कारण मेरे अंत: मन से नाता जोड़ बैठा है और जबरन मेरे मन के आँगन में घुस आया है।

और आज वह बरबस मेरे घर के आँगन में खड़ा बतिया रहा था। मैं जानना और पूछना चाहता था कि वह इस तरह की कड़ी मेहनत में क्यों तल्लीन है? उसकी उम्र सत्तर से ऊपर होगी। ऐसा मेरा अंदाज है। अभी जे.आर.डी. टाटा के बारे में पढ़ा है। वे 83 साल के हैं और रोज अपने ऑफिस में आकर चुस्तदुरुस्त ढंग से अपनी कंपनियों का कामकाज देखते हैं! दौड़ते भागते और मेहनत, एक्सरसाइज करते, फुरतीले बने रहते हैं। उनका बदन बाधावेदनाओं से मुक्त है। उन्हें वह शोभा देता है। पर यह दूधवाला! उनसे अम्मा पूछ रही थीं कि उसका बिटवा क्या करता है? और वह बता रहा था, उसके बिटवा को जमाने की हवा लग गई है, वह अपनी गृहस्थी ले अलग हो गया है। अभी भी एक लड़की है, जिसकी शादी करनी है।

वह एक दास्तान सुना गया, यह कहते कि उसका नाम सुनील है। जब आपके सुनील भैया हुए तभी मेरे भी बेटा हुआ। मैंने आपकी देखादेखी उसका नाम भी सुनील रख दिया था। मुझे क्या मालूम था कि वह अपनी बहन की शादी में हाथ नहीं बँटाएगा और छह महीने हुए वह अलग हो गया। किसी तरह गुजरबसर चल रहा है, पर एक ही चिंता है—बेटी की शादी की!

अपने नाम की करामात सुन मैं बाहर आया। अम्मा ने मुझे बताया कि तुम्हारे बाबूजी जब लखनऊ में थे, तब यह दूध देता था। आज मिलने आया है। ले आया है घर का अपने हाथों बनाया घीमक्खन मेरी आँखों के फायदे के लिए। मैं बोला, मैंने सुना, इन्होंने बताया कि इनके बेटे का नाम भी सुनील है!

अम्मा बोलीं, यही तो मैं कह रही थी कि उस सुनील ने अपनी बहन की शादी से हाथ खींच लिया, कोई बात नहीं। तुम तो हो न सुनील! तुम्हारे रहते इसे क्या फि क्र ! इसकी बेटी की शादी की जिम्मेदारी तुम्हारे सिर।

मैंने हामी भर ली और कह दिया—जो भी पाँचदस हजार खर्च होंगे बहन की शादी में, वह मेरी पत्नी मीरा से ले ले। मैं शहर में हूँ या नहीं, कोई चिंता की बात नहीं!

और झपटता बाहर चला आया। अब जब भी वह दूधवाला टकराने को होता है, मैं अपने को बचा जाता हूँ, क्योंकि मैं व्यर्थ में उसे एहसान के बोझ से नहीं लादना चाहता। मैं चाहता हूँ उस बहन की शादी हो और मैं खुद वहाँ जाऊँ तथा अपने दायित्व से मुक्त होऊँ। उस गरीब से सलाम लेना कितना बोझिल हो उठता है कि मैं उसे सह पाने में अपने आपको असमर्थ हूँ। मुझे लगता है, यह तो जीवन का क्रम है, अनोखे संबंध हैं, उन्हें जीना चाहिए, जिंदगी इसी के लिए हैं, लेकिन उसकी एवज में उसका झुकना, सलाम करना, एहसान जताना—एक बोझ है, जो रिश्तों के बीच में नहीं आना चाहिए।

दास्तान उन नामों की

इस तरह नाम और रिश्तों की बात लेकर मुझे याद आती है वह घटना। बात सन् 1986 की है, मैं दिल्ली में था।

2 अक्तूबर, बाबूजी का जन्मदिवस!

इसे गुजरे आठ दिन हुए, आज है विजयदशमी। इस बीच अम्मा से मिलने कितने ही अपरिचितअपरिचत आते

रहे। तरहतरह की बातें। घरपरिवार के लोगों के साथ एक मैं भी हूँ। लखनऊ से दिल्ली आना अकसर होता है, पर इस समय का आना एक खास तरह का आना है। बाबूजी की बातोंयादों से सभी का मन भरा हुआ है। परिवार के सभी समयसमय पर उनकी कमी, उनकी अनुपस्थिति अनुभव करते हैं, पर एक मैं हूँ, जो लगभग हर समय बाबूजी को अपने आसपास जीवंत पाता हूँ। लगता है, बराबर वे किसीनकिसी तरह किसीनकिसी रूप में मेरे साथ हर पल उपस्थित हैं।

उनकी उपस्थिति का एक गहरा अहसास लोगों को आज सुबह भी हुआ है। घर पर मिलने आए हैं श्री सी.पी. श्रीवास्तव। समय का गहरा अंतराल। वे सरकारी अफसर कम, घर के सदस्य अधिक हैं। वैसे वे बाबूजी के प्रधानमंत्रित्वकाल में उनके संयुक्त सचिव थे। बातों के बीच कितनी अनजानी बातें उन्होंने बाबूजी के बारे में सुनाईं, आज वे सारी अब के धरातल पर किस्सागोई सी लगती हैं। फिर भी उनकी बातों ने एक ऐसा माहौल खड़ा कर दिया और लगने लगा कि कुछ ही क्षणों में बाबूजी हम लोगों के बीच उस तरफ से आ जाएँगे और श्रीवास्तवजी को संबोधित करते हुए कहेंगे : श्रीवास्तव साहब, जरा आपसे एक सुझाव लेना है।

वे सी.पी.श्रीवास्तवजी को इसी तरह से संबोधित कर बात किया करते थे।

हम सब लोग पुरानी यादों में डूबे हुए थे। हमारा छोटा बेटा हमारी गोद में चढ़ने की जबरन कोशिश कर हमारा ध्यान अपनी उपस्थिति की ओर खींचने लगा। मैंने उससे श्रीवास्तव अंकल को नमस्ते करने के लिए कहा और वे पूछने लगे—बेटे, तुम्हारा नाम क्या है?

यह बात हो ही रही थी कि छोटे को देख मेरे दोनों और बेटे वहाँ आ पहुँचे। मैंने तीनों का परिचय कराते बताया—ये हैं विनम्र, इनसे छोटे हैं वैभव, और वह नटखट है विभोर।

श्रीवास्तव साहब सराहना किए बगैर नहीं रहे। उनकी तरह और भी जाने कितने लोग हैं, जो मेरे इन नामों के चयन की मुक्त कंठ से प्रशंसा किए बगैर नहीं रह पाते, पर आज बातचीत का सिलसिला कुछ इस तरह बाबूजी के इर्दगिर्द चल रहा था कि मुझसे रहा ही नहीं गया और बरसों की छिपी बात वाली गाँठ मेरे न चाहते हुए भी बरबस खुल ही गई। विनम्र, वैभव और विभोर के नामों को लेकर एक ऐसी उन्मुक्त चर्चा चल पड़ी, जिसमें मेरे बड़े भाई हरी भैया और अम्मा सभी शामिल थे। वहाँ उपस्थित सभी के मन में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ था कि मैं किस तरह विनम्र, वैभव जैसे नामों की कल्पना तक जा पहुँचा हूँ।

शायद अम्मा के सामने इस बात को कहने का और कोई दूसरा उपयुक्त समय नहीं आएगा। कभी और दूसरे समय यह बात कहनी पड़ी तो सारी ईमानदारी के बावजूद बहुत छोटा महसूस होगा अपने आपको।

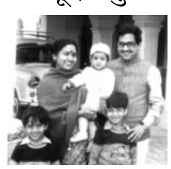

बाबूजी को लेकर सारा ही माहौल उतना जीवंत, उतना चार्ज और इलेक्ट्रिफाइड नहीं होता, तो शायद मेरे होंठों के बाहर यह बात कभी नहींआती।

मैंने बताया—मेरे ये बेटे अपने बाबा से अपरिचित ही रहेंगे। उन्हें मौका ही नहीं मिला अपने बाबा के प्यार को पाने का, क्योंकि मेरी शादी उनके निधन के बाद हुई। मेरे बाबूजी से परिचय पाने, उन्हें जाननेसमझने की उम्र अभी

इनकी नहीं। बाबूजी के न रहने के बाद इस बात से जूझता रहा कि उनके परिवार की कड़ी को आगे कैसे सहेजकर रख सकूँ गा मैं। जब मेरा पहला बेटा हुआ तो यह प्रश्न और बड़ा होकर मेरे सामने आ खड़ा हुआ। इस बेटे के मन में जिज्ञासा कैसे बोई जाए कि वह यह कभी जाननेसमझने के लिए आतुर हो उठे कि उसके बाबा कैसे थे? क्या थे? इसलिए बाबूजी के स्वरूप को मन में सँवारते हुए इन नामों की कल्पना गढ़ी कि आगे आने वाले समय में मेरा बेटा अपने बाबा के आदर्शों के प्रति खिंचाव महसूस कर सके, उस सबको अपने जीवन में उतारने के लिए प्रेरित हो सके। इसके लिए मुझे सहारे के लिए मिले बाबूजी के गुण!

लगभग सभी लोग कहते और मानते हैं कि शास्त्रीजी एक अतिशय विनम्र व्यक्तित्व वाले व्यक्ति थे, अत: उनसे विनम्रता उधार लेकर अपने बड़े बेटे का नाम मैंने रखा विनम्र। अब यह इस बेटे का दायित्व होगा कि वह बाबा की विनम्रता की रक्षा करे, कहते हुए मैंने अपने बड़े बेटे को सामने किया। जिसने पूरी विनम्रता से श्रीवास्तव अंकल को नमस्ते की और उन्होंने प्रत्युत्तर में उसके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया।

शास्त्रीजी का व्यक्तित्व वैभवशाली था, कहते हुए मैंने अपने बीच के बेटे को आगे किया और जोड़ा, यह है वैभव! उसने भी मेरे कहने पर नमस्ते की और श्रीवास्तव अंकल ने बड़े प्यार से उसके गाल थपथपाए।

विनम्र और वैभवशाली व्यक्ति वाले शास्त्रीजी से मिलकर हर कोई विभोर हो उठा है, इसलिए इस छोटे का नाम मैंने रखा विभोर!

उसने बिना मेरे कहे अंकल को नमस्ते की और जबरन श्रीवास्तवजी ने उसे प्यार से अपनी गोद में खींच लिया। तभी मैंने देखा, हरी भैया की आँखों की चमक दूनी हो उठी है और वे कह रहे हैं, मुझे नहीं मालूम था कि तुमने इस गहराई से सोचकर रख छोड़े हैं ये नाम! कहते उन्होंने तीनों को अपनी बाँहों के घेरे में ले लेना चाहा और आगे कहते गए—बड़े सुंदर हैं ये नाम और उससे कहीं अधिक सुंदर है इनके पीछे की बातें, जिस पर किताब लिखी जा सकती है!

हरी भैया अभी अपनी बात पूरी भी न कर पाए थे कि मैंने पाया, पास बैठी अम्मा विनम्र, वैभव और विभोर—तीनों को अपनी गोद में खींच चुकी थीं। उनकी आँखें नम हो आई थीं। उनके अधरों पर स्वर्गिक मुसकराहट थी, जिसमें से प्यार की गंगा भरपूर फूट पड़ी थी और मेरी बात पर जितना प्यार दादी के इन लाडलों ने उस क्षण अर्जित किया यह उनके लिए जीवन की अनोखी धरोहर बन चुका है, उनकी सुकुमार आँखों को देख मुझे ऐसा कुछ एहसास हुआ।

मेरे बच्चे, 15 अगस्त और दिल्ली का लालकिला

आज बेटे की इन आँखों ने मुझे जबरन अपने मन को टटोलने पर मजबूर कर दिया और मुझे अपने बचपन में देखी गई ऐसी ही कई आँखों की याद आ गई, जो मुझे कचोटती हैं, मेरे अकेलेपन को छूती हैं, जैसे नेहरूजी की आँखें। वे आँखें भी मेरे जीवन की अनमोल धरोहर हैं।

बात इसी 15 अगस्त की है।

मैं लखनऊ से दिल्ली आने वाला था। इस बार मेरे बेटों ने जिद की, वे भी मेरे साथ 15 अगस्त को दिल्ली आ, पास से प्रधानमंत्री को देखना चाहेंगे। उनका बालहठ किसी भी तरह टाला नहीं जा सका।

उस दिन परिवार के साथ मैं पहुँचा लालकिले। वहाँ बच्चों के बैठने के लिए अलग व्यवस्था थी। वैसे मेरे बचपन

में जब मैं अपने बाबूजी के साथ लालकिले आता था 15 अगस्त को, तब की और आज की बात में कितना फर्क आ गया है सुरक्षा की दृष्टि से। आज बच्चे समारोह के बीच कुछ पूछना चाहें तो वह संभव नहीं! अलग पत्नी के साथ बैठा दिया गया मैं। कार्यक्रम समाप्त हुआ, हम वापस चल पड़े। इतनी देर में जाने कितनी बातें, पुरानी कितनी घटनाएँ मेरे मन में इकट्ठा हो आई थीं। सीढ़ियों से उतरते हुए सहज ही मैंने अपनी पत्नी का हाथ धीरे से पकड़ा और कहने पर मजबूर हो उठा, क्योंकि हो रहे समारोह के बीच मुझे पंडित नेहरू की आँखें बारबार याद आती रहीं। शायद बच्चों की दूरी ने उन आँखों को और कहीं अधिक पैना कर दिया था। मुझे सहारा चाहिए था। पत्नी को अटपटा न लगे, उसका हाथ छूते ही मैंने कहा— मीरा, इसी जगह लाल किले पर एक बार पंडितजी का हाथ पकड़ने और उनके गले लगने का मौका मैंने पाया था।

मेरी बात पर पत्नी ने मेरी ओर ठिठककर देखा। उसकी आँखों ने जानना चाहा : पूरी तरह बताओ न, कहो— कब? कैसे?

मैंने कहा—यह बात मैं लखनऊ में उसी दिन कहना चाहता था, जब बच्चों ने लालकिले पर आने की बात कही थी। ऐसे ही मैंने भी अपने बाबूजी से लालकिले पर आने की जिद की थी, पर काम की आपाधापी में यह सब, वहाँ लखनऊ में, कह नहीं पाया। यहाँ बैठे मुझे नेहरूजी की आँखों की वह चमक लगातार याद आती रही। जानती हो, बाबूजी के साथ यहाँ लालकिले पर पहली बार पहुँचकर मैं लगातार एकटक पंडितजी को ही देखता रहा। उनके एकएक नक्श और हावभाव मेरे मन पर आज भी सजीव अंकित हैं। जैसे वे घर भी आते थे। बैठकें होती थीं और मैं हमेशा छिपकर उनकी बातें सुना करता था, पर 15 अगस्त की बात ही कुछ और थी, जब मैं पहली बार यहाँ आया था और पंडितजी आए, ध्वजारोहण हुआ। उन्होंने बोलना शुरू किया और कितनी जल्दी उनका सारा भाषण खत्म हो गया। वह सारा समय मेरे लिए कितना छोटा हो उठा था—बस एक पल का, जो पलक झपकते ही मानो बीत गया। भाषण के बीच एक और लालसा जागी उनका हाथ पकड़कर चलने की। बारबार उनके पास आता और वे प्यार से मुझे थपथपा देते।

जैसी मेरी इच्छा थी, उनका हाथ पकड़कर चलने की, वह नहीं हो पाई। उस समय के रक्षामंत्री कृष्ण मेनन भी पंडितजी के साथ चल रहे थे। उन्होंने देखा—मैं बारबार पंडितजी के निकट प्यार पा लौट जाता हूँ। मेरी नटखटता शायद उन्हें न पसंद आई हो या कुछ और कि अगली बार जब मैं पंडितजी की तरफ बढ़ा तो उन्होंने अपने एक हाथ से मेरा हाथ पकड़ा और दूसरे से बड़े प्यार से मेरी नाक। उन्हें शायद यह पता नहीं चल रहा होगा कि मुझे कितनी तकलीफ हो रही है। मैं इस तरह महसूस कर रहा था जैसे पिंजड़े में बंद एक पंछी महसूस करता हो। मैंने पंडितजी के निकट आ उनके हाथ को धीरे से हिलाया। पंडितजी ने मेरी ओर देखा और वे भाँप गए कि बड़ी कष्टदायक स्थिति में है यह बेटा। उन्होंने सीधे तरीके से मेनन साहब से यह नहीं कहा कि मेरी नाक छोड़ दें, इससे लड़के को तकलीफ हो रही होगी, पर बड़े सुंदर तरीके से हँसते हुए बोले—क्यों, भाई कृष्ण मेननजी, आप चाहते हैं कि इस लड़के की नाक भी आपकी तरह लंबी हो जाए?

इतना सुनना था कि कृष्ण मेनन ने तत्काल अपना हाथ मेरे नाक की पकड़ से हटा दिया। मुक्त हो मैं खुशीखुशी पंडितजी की तरफ लपका। पंडितजी ने बड़े प्यार से मुझे गले से लगा लिया। इसी तरह मेरा हाथ पकड़े वे चलते रहे। आज जब सोचता हूँ तो बात कितनी अजीब लगती है। होने वाली बात के अर्थ हम चाहे न जाने, लेकिन वह

बिना मतलब नहीं होती। अगर मेनन साहब ने मेरी नाक न पकड़ी होती, तो शायद नेहरूजी की निकटता, इतना प्यार पाने का वह सौभाग्य मुझे न मिलता।

जब यह सब मैं मीरा को सुना रहा था तो मुझे याद आया कि राजनीति में पड़ेउलझे लोगों के लिए परिवार कैसे बँट जाता है। काम की आपाधापी के बीच पितापुत्र के संबंधों की खाई कैसे बढ़ जाती है। वैसे मेरे बाबूजी ने कभी यह दूरी नहीं महसूस होने दी, फिर भी राजनीति है। सारी कोशिश के बावजूद हमारे पितापुत्र के संबंधों में कमी आना लाजिमी था। वह कमी कभी-कभी मुझे कचोटती रहती है।

बाबूजी के साथ रंगून

बात है दिसंबर 1965 की।

याद आता है किस कठिनाई से मौका मिला था हम लोगों को रंगून जाने का, वह भी मेरी पहली विदेशयात्रा! मैं और मेरा छोटा भाई अशोक, बाबूजी के साथ रंगून जा रहे थे। बड़ा अच्छा लग रहा था अम्माबाबूजी के साथ यात्रा करना। बारबार मन में यही सोचता कि वहाँ पहुँचने पर एक प्रधानमंत्री के पुत्र होने के नाते मुझे क्या करना चाहिए? क्या उचित होगा क्या नहीं? और कुछ थोड़ी सी घबराहट भी मेरे मन में थी। मैंने बाबूजी से जानना चाहा : हम लोगों को क्या कुछ करना पड़ेगा वहाँ?

उनका उत्तर था—सुनील, ये सारी बातें तुम लोगों को बता दी जाएँगी। कोई ऐसी बात नहीं, जिसे लेकर तुम ज्यादा परेशान हो। यह जरूर है, वहाँ पहुँचने पर तुम्हें वहाँ के बच्चों से, स्कूल के लड़कों से शायद मिलना भी पड़े। मीटिंगें आयोजित की जाएँगी और उनमें तुम अपने देश के बारे में बताना।

देश के बारे में! मैंने तो आज से पहले कभी इस प्रश्न पर सोचा ही नहीं, इसलिए पूछ बैठा—देश के बारे में हमें क्या बताना चाहिए? वे कुछ और कहने वाले थे कि सहसा मैंने पाया, वे मुँह खोलतेखोलते रुक गए, वे आँखें आज भी मेरे मनपटल पर सजीव अंकित हैं। एक पल देखते रहने के बाद बोले—सुनील, तुमने जो प्रश्न किया है, शायद उसका उत्तर किसी के पास कठिनाई से ही मिलेगा। देश के बारे में क्याक्या बताएँ! अपना देश इतना विशाल है और इतनी विविधता है कि इसकी हर बात, हर व्यक्ति शायद ही जानता हो, पर तुम्हें यह बात जरूर ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारी संस्कृति और जो हमारी परंपरा है, जो एक हमारा खास दृष्टिकोण है विभिन्न धर्मों के प्रति, उन सारी बातों को वहाँ स्पष्ट करना चाहिए, बताना चाहिए और साथहीसाथ अपने देश के महान् नेताओं के बारे में, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के बारे में, पंडितजी के बारे में बातें करनी चाहिए।

हम लोग रंगून पहुँचे। हमें तौरतरीकों से अवगत कराया गया। प्रधानमंत्री उतरे, गार्ड ऑफ ऑनर हुआ। हम लोग गेस्ट हाऊस में पहुँचा दिए गए। वहाँ ठहरने के लिए हम दोनों भाइयों को अलगअलग कमरा दिया गया। जीवन में इस तरह अलग रहना पहली बार हो रहा था, परेशानी की बात थी।

अपनी परेशानी ले हम बाबूजी के पास आए, वे बोले—अभी अलग कमरों में ही रहिए। रात आने पर एक ही कमरे में सो जाइएगा।

इस यात्रा ने मन में जाने कितने प्रश्न खड़े कर दिए!

विदेश से देश की ओर लौटते हुए मन में देश के नगरों, महानगरों की ओर आने, उन्हें देखनेसुनने की जिज्ञासा

जागी। भारत लौटने पर बाबूजी के सामने अपने मन की बात रखी, कहा—रंगून के अनुभव अपनों को सुनाने चाहिए। हमारे कुछ दोस्त लोग बंबई का प्रोग्राम बना रहे हैं, अगर आप इजाजत दें तो मैं भी उनके साथ बंबई घूम आऊँ।

मेरी बात सुन बाबूजी बोले—देखो सुनील! विदेशयात्रा करके आए हो। तुम्हारी छुट्टियाँ आ रही हैं, मैं चाहता हूँ कि तुम ग्रामीण अंचल का दौरा करो। उन लोगों को जानने की कोशिश करो, जिनकी सेवा तुम्हें करनी चाहिए, उनकी कठिनाइयाँ क्या हैं? वे किस तरह रह रहे हैं? यह सब जानो समझो।

उस समय उनके इस उत्तर पर मेरा किशोर मन परेशान हो उठा, क्या जानता था उनके ये चंद वाक्य मेरे जीवन की राह गढ़ रहे हैं। वे मेरे सामने जो मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं, वह आगे जा मेरा ईष्ट बन जाने वाला है। उनसे जवाबसवाल का प्रश्न ही नहीं उठता था, पर मन कोस रहा था। किसी तरह भुनभुनाकर मन की बात उनके सामने रख दी—गाँवों में जाने से मेरी छुट्टी खराब हो जाएगी, बंबई न गए तो सब बेकार हो जाएगा और आप जा रहे हैं ताशकंद!

मेरे स्वरों का उलाहना उनसे छिपा नहीं था। बोले—अच्छा, आप ऐसा कीजिए, जब मैं ताशकंद से लौटकर आऊँ तब आप मुझे बताइएगा। हम बंबई घूमने का इंतजाम करवा देंगे, पर अभी आप मध्य प्रदेश के आदिवासी क्षेत्र का दौरा करें, वहाँ गाँवों में जाएँ, उन्हें देखेंसमझें।

उनका स्नेह भरा आदेश टालना असंभव था, उसे मैं कैसे टालता!

बाबूजी उधर ताशकंद गए और मैं भोपाल, मध्य प्रदेश के लिए रवाना हो गया। जाते समय मैंने बाबूजी से जरूर पूछा कि मैं दौरा तो कर आऊँगा, पर इससे आप मुझसे चाहते क्या हैं? कुछ वहाँ के लिए काम तो बताइए, जिससे मैं लौटकर आप से बता सकूँ कि यहयह किया और मुझे उसमें कितनी सफलता मिली।

बाबूजी ने कहा—सुनील, इस दौरे में राष्ट्रीय सुरक्षा कोष, जो नेशनल डिफेंस फंड है, उसके लिए कुछ धनराशि इकट्ठी करनी होगी।

लड़ाई हो चुकी है। वे समझौते के लिए जा रहे थे। उनका कहना था कि देश के जवानों के लिए और रक्षा के लिए धन की जरूरत है। उसके लिए मैं भी कुछ करूँ। उन्होंने आगे हिदायत दी कि जहाँजहाँ मैं जाऊँ, लोगों के मन में जागृति पैदा करने की कोशिश करूँ । इस तरह मेरा दौरा भी होगा और देश के कुछ काम भी आ सकूँगा। इसके लिए मुझे कोशिश करनी चाहिए

मैंने पूछा—आप इसके लिए मुझसे कितना चाहते हैं? कुछ धनराशि निश्चित कर दीजिए।

उनका उत्तर था—दस हजार रुपए भी आप करेंगे तो हम आपकी काफी तारीफ करेंगे।

मैंने जवाब दिया—मैं दस नहीं, आप के लिए तीस हजार तक तो ले ही आऊँगा।

मेरे इतना कहने पर मैंने पाया, वे चुपगंभीर हो सराहना के साथ एकटक मुझे देखने लगे। आँखें बंद करके आज भी मैं उन आँखों की गरमी से संवेदनशील हो उठता हूँ। क्या कुछ नहीं कहा था उन अनबोली आँखों ने मुझसे!

उधर बाबूजी ताशकंद गए और मैं मध्य प्रदेश के लिए चल पड़ा।

दौरे का नया अनुभव खून में बसने लगा था। एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव, एक मीटिंग से दूसरी मीटिंग। आज अगर कोई मेरी आँखों में कैमरे का लैंस फिट कर दे तो शायद बटन दबाते ही उस दौरे की सारी तसवीर फिल्म के परदे पर बनतीउतरती चली जाएगी।

कैसी रोमांचक यात्रा थी वह भी!

भोपाल में चंदाफेरी और बाबूजी का निधन

पहले सारा कुछ एक अनावश्यक घटनाक्रम लग रहा था। फिर जो उत्साह भीड़ की आँखों में उमड़ता पाया, उससे साहस बढ़ने लगा। मीटिंगों का क्रम बढ़ता जा रहा था। अब भूख ने साथ छोड़ दिया था। लोगों से मिलता, उनकी बातें, उनका दु:ख-दर्द सुनता और उसे बाँटने की चेष्टा में यह आभास जागा और लगा, जीवन का सत्य स्पष्ट हो रहा है। मेरा लक्ष्य सँवरने और मूर्तरूप प्राप्त करने लगा है। इससे पूर्व ग्रामजीवन या ग्रामीण अंचल से कोई संपर्क या लगाव ही नहीं पनपा था। आज सोचता हूँ, सोलह वर्ष की आयु में इतने निकट से भारत देखने का अवसर बाबूजी ने सामने रख दिया था।

हर रात सोने से पहले बाबूजी को याद करता, सोचता था। उन्होंने जो मार्ग दिखा दिया है, वह अब मेरे जीवन को अपने में पूरी तरह समेट ले! योजना बनाता, लौटकर अपने अनुभव, अपनी इच्छा और कल्पनाओं को किसकिस तरह बाबूजी के साथ बाँटकर जीऊँ गा। हर दिन यह इच्छा बढ़ती, बलवती होती चली जा रही थी। बाबूजी से मिलने की आतुरता।

दोतीन दिनों के अंदर दसपंद्रह हजार से ऊपर रुपए इकट्ठे हो चुके थे। इसके साथ ही कितनी ही जगह महिलाओं ने देश के जवानों के लिए अपने गहनेजेवरात तक दे दिए। वह सारा कुछ जिला प्रशासन एकत्र करता जा रहा था।

दस तारीख की रात!

विदिशा का एक गाँव गंज बसोदा।

यहाँ मीटिंग में पहुँचना था साढ़े सात बजे, पर उसके पहले के कार्यक्रम लंबे होते चले गए। हम बसोदा पहुँचे साढ़े ग्यारह पौने बारह बजे। वे लोग मेरा इंतजार नहीं कर रहे थे, बल्कि मेरे बाबूजी का। युद्धविजयी नेता के रूप में, जिसने देश को विजय दिलाई थी, उसे उन्होंने सत्कार ही नहीं दिया, बल्कि अपने हृदय के सिंहासन पर विराजित कर लिया था। उस भीड़ में मैंने सबका मानसत्कार अपने बाबूजी के लिए स्वीकार किया। मुझे लगा कि वे चाहते हैं कि मैं उनकी भावनाओं को दिल्ली ले जाकर बाबूजी तक पहुँचाऊँ।

मीटिंग समापन के नजदीक आई तो उस रात जिला अधिकारी ने बताया कि ढाई लाख रुपए इकट्ठे हो चुके हैं। उस पल मैं अपने मन में उत्साह की बात आपको क्या बताऊँ।

कहाँ बाबूजी की माँग के दस हजार और मेरे वादे के तीस हजार, और जनता के लिए अब तक के तीन लाख से ऊपर! आप एक सोलह साल के युवक के मन की खुशी का अंदाज लगाइए। क्या मच रहा था उस क्षण मेरे मन के आँगन में, जैसे पर लगाकर मैं बाबूजी के सामने जा खड़ा होना चाहता था।

काफी रात गए इंस्पेक्शनबँगले पर वापस लौटा। अभी दो करवटें भी नहीं ली थी कि कच्ची नींद में साढ़े चार बजे के लगभग मुझे जगाया गया। कहा गया—आगे का कार्यक्रम रद्द कर दिया गया है। मुझे सीधे भोपाल जाना है।

उस समय मेरे साथ श्री शंकर दयाल शर्माजी, जो आजकल भारत सरकार के उपराष्ट्रपति हैं, थे। मैं उनके कमरे में गया, उनकी आँखें गीली थीं। उन्होंने या किसी ने कुछ नहीं कहा मुझसे। अजीब लगा, सभी आँखें चुरा रहे हैं।

मेरे साथ वहाँ के राज्यपाल के.सी. रेड्डी के पुत्र सुदर्शन रेड्डी भी थे। जब मैं भोपाल से चला था, उस समय राज्यपालजी की तबीयत कुछ खराब थी। मेरे मन ने कहा : सुदर्शन रेड्डी को नहीं बताना चाहते, कहीं उनके पिताजी नहीं रहे हों, यह सोच मैंने कुछ ज्यादा खोजबीन नहीं की।

भोपाल पहुँचते मैंने वहाँ की सरकारी इमारतों पर लगे तिरंगे झंडे को देखने की अथक चेष्टा की कि वह क्या आधा झुका हुआ है? हमारी गाड़ी फर्राटे से चल रही थी। वह बात भी संभव नहीं हो पाई।

राजभवन पहुँचा। गर्वनर साहब से मिलने की इच्छा जाहिर की, पर इसके लिए भी असमर्थता दिखाई गई। उनकी तबीयत खराब थी और उनके लिए मेरा सामना करना कठिन था। उनकी पत्नी मेरे पास आई और उन्होंने कहा—आपको दिल्ली जाना होगा, क्योंकि आपकी दादी नहीं रहीं। मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री डी.पी. मिश्र दिल्ली जा रहे हैं, वे अपने हवाई जहाज में तुम्हें वहाँ ले जाएँगे।

शंका जागी, मुझे राज्यपाल से नहीं मिलने दिया जा रहा और इस तरह से ले जाया जाना कुछ समझ में नहीं आ रहा था। रेडियो तक सुनने को नहीं दिया गया मुझे।

हम भोपाल हवाई अड्डे पर पहुँचे।

जल्दीजल्दी मुझे मुख्यमंत्री के साथ ले जाया जा रहा था। आतेजाते एक अखबार पर नजर पड़ी और केवल इतना ही पढ़ पाया, जहाँ बड़े अक्षरों में शास्त्री लिखा है। सोचा कि वह ताशकंद की खबरों से संबंधित है। इससे आगे सोचने की अक्ल ही नहीं पैदा हुई थी। तब तक। दोपहर के आसपास पालम हवाई अड्डे पर उतरा। हजारों की भीड़! पहले थोड़ा सा चौकन्ना हुआ। लगा शायद गलत बात मेरे मन को ढाढ़स दिलाने के लिए कही गई है मुझसे। दादी की नहीं, कहीं मेरी माँ की मृत्यु न हुई हो! बाबूजी की तरफ तो ध्यान ही नहीं गया। इतनी भीड़ शायद इसलिए उमड़ आई है कि वे सब बाबूजी को मान देते हैं और संवेदना देने आए हैं।

गाड़ी से घर की ओर!

घर में सभी को रोते पाया। हरी भैया, अनिल, अशोक—सभी दुखी खड़े रो रहे थे, कोई नहीं बोला। मैं ठिठककर पल भर खड़ा रहा। एक ओर से आवाज आई—चलो अम्मा के पास!

पीछे वाले बरामदे में ले जाया जा रहा था मुझे। मैं अपने से लड़ रहा था। मेरी ये आँखें अम्मा के उनके मृत शरीर को कैसे देख पाएँगी? मन का साहस बटोर, भारी कदमों से उधर चला।

सीढ़ी पर पहला कदम!

मुझे साँप सूँघ गया। शरीर ने अपना साथ छोड़ दिया, जड़वत् पत्थर की तरह गिरा भी नहीं, खड़ा भी नहीं रहा जा रहा था। क्योंकि अम्मा उस कमरे से निकलीं, रोती हुई। उनकी बिंदिया पुँछी थी। लपककर उन्होंने मुझे बाँहों में भर लिया था। तब मुझे अहसास हुआ, मैंने अपने बाबूजी को खो दिया है।

अम्मा की उन आँखों को क्या जीवन में कभी भी भूला जा सकता है! मेरे मन के शीशे पर अंकित आकांक्षाओं, इच्छाओं और आशाओं के सारे सपने टूटकर बिखर गए। कल्पना के वे सारे बंदनवार, जो मैंने मध्य प्रदेश के ग्रामीण अंचलों में बुने थे, उन सबके बीच पिरोया धागा खींच लिया गया था और मैंने उन बंदनवारों के सुमन -पुष्प को मन की मुट्ठी में भींचकर कस लिया था। इन सारी बातों, घटनाओं को जिनको मैं बाबूजी के साथ बाँटकर

जीना चाहता था, उनसे आजीवन कभी भी अब बाँटकर नहीं जी सकूँगा। कैसी छटपटाहट और असहाय स्थिति में मैं लाकर खड़ा कर दिया गया था? नए कच्चे मन के अनुभव मेरे मन की गहराइयों में अब सदासर्वदा के लिए बंद रह जाएँगे। मैं दौड़ा था उन सब को साथ ले बाबूजी से कहनेसुनने, पर बाबूजी के साथ उन सबको लिये जाने से पूर्व ही वे मेरे सामने चुप, सदा के लिए नींद के आगोश में पड़े थे। उस क्षण मेरी कसी मुट्ठी मेरी छाती से जा लगी और मेरे मन ने एक प्रण, एक अनुष्ठान किया।

मैं अम्मा के गले से लगा बड़ी हिम्मत करके उनकी आँखों की ओर देख पाया, जहाँ गहरा सूनापन था। उनकी आँखों से लगातार आँसू की धारा फूट रही थी। मैंने हाथ बढ़ा अपनी हथेली से उनकी आँख पोंछने और उनका दु:ख बाँटने की असफल कोशिश की। उन आँखों की अनोखी गहरी छाप मेरे मन में घर कर गई।

मैंने उस पल इस बात का फैसला किया कि कोशिश करूँगा आजीवन, आने वाले समय में, बाबूजी की उस भावना का आदर करते हुए, भारत को सही रूप में जान सकूँ। उन्होंने मुझे गाँव में जाने की सलाह दी थी कि वहाँ जाकर सेवा का व्रत लूँ, बाबूजी ने मुझे इसके लिए ही प्रेरित किया था। मेरी कोशिश और चेष्टा यही रहेगी कि जब तक संभव हो सकेगा, जैसे भी संभव हो सकेगा, बाबूजी की उस भावना को अपने साथ लेकर ही आगे बढ़ूँगा।

बाबूजी जो कुछ चाह रहे थे, वह भोपाल जा, करने की कोशिश मैंने की, पर उसमें पाई अपनी सफलता उनको बता नहीं सका। इसलिए उनका सौंपा हुआ काम आजीवन करता रहूँगा—यह मैंने प्रण किया, क्योंकि अपनी बातें उनसे न बता पाने की असफलता मुझे जीवन भर सालती रहेगी।

लखनऊ। सन्...!

मैं उत्तर प्रदेश सरकार में उपमंत्री बना तो शपथ समारोह में अपनी पूजनीय अम्मा को भी राजभवन ले गया। शपथ लेने के बाद अम्मा के पैर छू आशीर्वाद माँगा। बड़े स्नेह से उन्होंने आदर्शों को सामने रखते हुए कहा—ईमानदारी, कर्मठता और पूरी लगन के साथ जो भी काम तुम्हें मिले, उसे करना होगा।

जिस समय अम्मा मुझसे यह कह रही थीं, मेरी आँखों के सामने वह समय गुजरा जब बाबूजी ने प्रधानमंत्री पद की शपथ ली थी। मैंने सुन रखा था: बाबूजी घर लौटे थे और अपनी माँ यानी मेरी दादी के चरण छुए। पर दादी ने इतना कहा—नन्हे, मैं चाहती हूँ भले ही तुम्हें कुछ हो जाए, लेकिन देश को तुम्हारे रहते कुछ नहीं होना चाहिए, लोगों की सेवा तुम्हें जीजान से करनी है, बिना अपनी जान की परवाह किए।

उस पल ये सारी बातें मेरे मन में गूँज उठी थीं। पर उस दिन भी जब अम्मा आशीर्वाद से मेरे सिर पर अपना हाथ फेर रही थीं तब भी उनकी आँखों में वही सूनापन था, जो भोपाल से लौट मैंने अम्मा की आँखों में पाया था।

उन हाथों की कीमत

फिर कई बार अम्मा लखनऊ आती रहीं।

समय का अंतराल!

एक बार वे लखनऊ में मेरे साथ थीं। मेरे मन में उनके प्रति अनुराग जागा और जाने क्यों अनायास ही मैंने उनसे माँग की—अम्मा, आपकी बहू के हाथ का खाना तो मैं हर दिन खाता ही रहता हूँ, आप के हाथों बना खाना खाए काफी अरसा हो गया। आप जानती हैं मेरी पसंद। आज शाम आप के हाथों बना खाना, खाना चाहता हूँ।

उम्र उनकी काफी हो चुकी है। यह माँग अटपटी लग सकती है। पर मेरा भोला मन इस माँग से कतराया नहीं, जाने क्यों ऐसा ही जी में आया और कह गया।

उस शाम उन्होंने खाना बनाया। मेरे बेटे भी तारीफ करते रहे—दादी माँ, आज आपने सचमुच बहुत ही अच्छा खाना खिलाया!

खाना खा, जब मैं हाथ धोकर लौटा, तो मैंने अम्मा के दोनों हाथों को बहुत प्यार किया और मेरे मुँह से अनायास निकला : अगर मुझसे आज कोई पूछे, इन हाथों की कीमत क्या है, तो मैं अरबोंअरबों में जाने कितना कह दूँगा। क्या इस प्यार, इस स्नेह की कीमत लगाई जा सकती है?

इतना कह मैंने खुशी देखने के लिए अम्मा की आँखों में झाँका, वहाँ वह खुशी नदारद मिली। बुझतीजलती आँखें देखी हैं कहीं तो मैंने पाया है उसे अम्मा की आँखों में! खाना खिलाकर जो संतोष उनकी आँखों में झलका था, वह मेरे बोलते ही एकदम नदारद था। उनमें दो बूँद आँसू छलक आए थे, जिसे वे साड़ी के छोर से सुखाने का झूठा प्रयास कर रही थीं।

क्या हो गया? क्या मैंने कुछ गलत बात कही? अपनी गलती जानने के लिए उनकी बगल में जा बैठा। मेरे खोदखोदकर पूछने पर उन्होंने बमुश्किल इतना ही कहा—कुछ नहीं!

फिर भी मैं उनके मन की गहराई को भाँप चुका था। मैंने उन्हें टालने नहीं दिया और बारबार कुरेदकर पूछता रहा—अम्मा, बताइए न, क्या बात है?

काफी कठिनाई के बाद बमुश्किल उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा—कुछ नहीं, मुझे याद आ गई थी तुम्हारे बाबूजी की!

मैंने आगे जानना चाहा, वे बोलीं—एक बार तुम्हारे बाबूजी काफी दिनों के बाद जेल से लौटे थे और जो कुछ घर में था, मैंने जोड़-बटोरकर खाना बनाया। वह उन्हें बहुत पसंद आया और उन्होंने ऐसी ही बात कही थी कि कोई मुझसे पूछे कि तुम्हारे इन हाथों की कीमत क्या है तो मैं कहूँगा अरबोंअरबों...!

अम्मा की इस बात पर मैं अपने को रोक न सका और मैं उनसे बरबस लिपट गया।

आज भी अम्मा की वे सजल आँखें तबजब याद आ जाती हैं। जब भी कभी रात में नींद टूट जाती है और परेशान होता हूँ तो ताशकंद जाने से पहले कही गई बाबूजी की बातों और उनकी आँखों की गहराई कि तुम अगर देश के लिए तीस हजार कर लोगे तो हम तुम्हारी काफी तारीफ करेंगे और मैं उनके दिए गए वादे के तीस हजार इकट्ठा करने में अपना सारा जीवन खर्च करता रहूँ, तभी अपने को सफल मानूँगा।

एक और अभिवादन

गणतंत्र दिवस। आज बारबार दूरदर्शन पर तिरंगे झंडे को देख एक भावना उठी, गर्व का अनुभव कर रहा था मैं भारतीय नागरिक होने का! बारबार मन करता था कि तिरंगे को सैल्यूट करता रहूँ, पर साथ ही मन में कहीं तूफान भी रहरहकर उमड़ रहा था। वह तूफान जो कि आतंकवाद के समाचारों से, तोड़फोड़ की घटनाओं से पूरी तरह बोझिल है। जहाँ एक ओर तिरंगे को ऊँचा लहराता देख रहा था, उसमें से देश की ऊँचाई झाँक रही थी, दिखाई पड़ रही थी, वहीं दूसरी ओर देश के ऊपर कितना बड़ा संकट है, इसका अहसास मन को विचलित कर रहा था।

संकट के बादल मँडरा रहे हैं! भयानक संकट के विचार से मन आतंकित! पिछले दिनों राजीवजी ने जब भारतीय युवक कांग्रेस के महाधिवेशन को संबोधित करते हुए युवकों को आगे निकलकर आने के लिए कहा और 'भारत बनाओ' का आह्वान किया, तो मेरे मन में एक गीत ने जन्म लिया—

'मिलजुलकर सब आओ
भारत देश बनाओ...।'

लेकिन मन अब सोचता है, क्या यह कहीं अधिक सही न होता, यदि मैं पंक्तियाँ इस प्रकार से लिखता—

'मिलजुलकर सब आओ
भारत देश बचाओ...।'

यह 'बचाओ' की बात मेरे मन में आई थी, क्योंकि आज परीक्षा की घड़ी अपने देश के नागरिकों के सामने आ खड़ी हुई है। हमारा दायित्व बनता है कि हम गंभीरता से विचार करें कि कैसे हम अपने को और अपने देश को बचाएँ।

सच है, पिछले कई वर्षों से हम प्रगति करते आ रहे हैं। विकास हमने किया है और विश्व में सम्मानजनक स्थान भी अपने देश को मिला है, लेकिन क्या हम भारतीय नागरिकों के मन में, एक दूसरे के लिए सम्मान बना सके या एकदूसरे प्रदेश के बीच एकता का, स्नेह का, सम्मान का रिश्ता जोड़ने में सफल हो सके? एक ज्वलंत प्रश्न मेरे मन को बारबार काट रहा है : क्या हम अपनी गलतियाँ नहीं सुधार सकते?

यह तो संभव नहीं कि मैं अकेला या मेरे अकेले लोग ऐसी सफलता पा सकें, जिसमें कि देश की एकता और अखंडता सुरक्षित रहे। यह भी सच है कि जबजब देश के ऊपर खतरा आया, देश के हर नागरिक के मन में उसके राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रीय चरित्र को उभारा और फलस्वरूप देश की एकता अखंडता बरकरार रही। आज हम देश के उस प्रे्रम को, जो हर भारतीय चरित्र, भारतीय नागरिक के मन में है, छिपा हुआ है, उभारने में सफल क्यों नहीं हो पाते! केवल जब देश पर खतरा आए, तभी उसे देख पाएँगे। अगर हम देश के प्रति उस प्रे्रम को हमेशा के लिए उभार सकें, तो शायद कोई भी शक्ति इस विश्व में नहीं होगी, जो हमें किसी भी तरह तोड़ सके, हमें आगे बढ़ने से रोक सके।

आज जिधर भी जाइए, सुनने को मिलता है। यहाँ पर इतने मारे गए, वहाँ इतने, यह हुआ वह हुआ—क्या अब यही देश का लक्ष्य बच गया है आज! यदि नहीं, तो आइए हम सोचें, गंभीरता से बात करें कि हमें कोशिश करके किसी भी तरह ऐसा माहौल बनाना चाहिए, जिससे बचपन से ही बच्चों में देश के प्रति सच्ची श्रद्धा और सम्मान पैदा हो। आज विभिन्न राजनैतिक दल तरहतरह की सोसाइटियाँ या चैरिटेबल ट्रस्ट और ऐसी अनेक संस्थाएँ, जो अपनी समझ से अच्छा काम कर रही हैं, उनके लिए कोई 'कंपलसरी' बात हो ऐसी आवश्यकता नहीं, लेकिन उनके संविधान का एक अंग यह जरूर होना चाहिए कि वे लोगों में देश के प्रति प्रेम के बीज बो सकें। आपसी सद्भाव और सहिष्णुता पैदा कर सकने में सफल हो सकें। जिसमें देश की एकता, अखंडता, देश का संविधान,

देश का राष्ट्रगीत, राष्ट्रगान, देश का तिरंगा झंडा—इन सबके प्रति सम्मान और रागलगाव, उनके विचार और प्रसार का एक अंग होना चाहिए। अगर यह भावना हर राष्ट्रीय दल या चैरिटेबल इंस्टीट्यूशन या कोई भी ऐसी अन्य संस्था, उसके इंस्टीट्यूशन, अपने सदस्यों के मन में इस भावना को प्राथमिकता दें, उसे जगाएँ तो यह पहल, जितनी देश के हित में होगी, उससे कहीं अधिक उस संस्थान और उसके सदस्यों के हित में भी होगी।

साथहीसाथ आप मेरे साथ यह भी महसूस करेंगे कि जितनी भी क्षेत्रीय राजनीतिक पार्टियाँ हैं, डेमोक्रेसी में ऐसी पार्टियों का होना स्वाभाविक है, लेकिन इन सभी पार्टियों का सबसे पहला उद्‌देश्य हो तो वह है देश की एकता, देश का सम्मान, देश की संस्कृति सुरक्षित रखने की बात। फिर उसके बाद में अपने क्षेत्र की बात कर सकते हैं, क्योंकि आप भी स्वीकार करेंगे कि देश के भाग्य के साथ क्षेत्र का भाग्य और उसकी भलाई जुड़ी है। अगर आज हम यह नहीं करते तो शायद आगे आने वाला समय एक ऐसा समय होगा, जब क्रांति के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं दिखाई पड़ेगा। मेरा अपना विश्वास है कि रेवोल्यूशन की आवश्यकता हमें नहीं पड़नी चाहिए, क्योंकि हमने और हमारे देश ने हमेशा सही रास्ते पर चलने का प्रयास किया। आज अगर कुछ लोग यह समझते हैं कि वे अपने निहित स्वार्थ के लिए अपने तरीकों से देश में गलत वातावरण बना सकते हैं, युवाशक्ति एवं किसानों की कमजोरी के कारण उनका शोषण कर सकते हैं तो इसमें देश की एकता, अखंडता में बाधा पड़ती है, पर वे इसका विचार नहीं करते? दबाव में आने के फलस्वरूप शोषित व्यक्ति में क्रांति की भावना जागती है और वह कुछ भी करने पर आमादा हो जाता है। वह सारा विघटन न हो, इसलिए हमें आज के इस पवित्र पावन पर्व पर इस बात की शपथ लेनी चाहिए, इस बात की प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि हमें एक सच्चे भारतीय नागरिक की भूमिका निभानी है। कह सकते हैं कि मुझे जन्म से, घरपरिवार से विरासत में मिली भावना का यह फल है कि इस तिरंगे, इस अपने देश के प्रति एक अटूट लगाव महसूस करता हूँ। शायद यही कारण है कि मैं अपने तिरंगे की शान हमेशा सुरक्षित रखने की बात सोचता हूँ और मुझे अचानक बाबूजी की ये पंक्तियाँ, जो उन्होंने 15 अगस्त, 1965 को लाल किले से इस देश को संबोधित करके कही थीं, मेरे मन में गूँजती हैं। उन्होंने कहा था—

‘हम रहें या न रहें,
यह मुल्क रहेगा
यह झंडा रहेगा,
यह तिरंगा रहेगा।’

और आज यह मुल्क भी है। यह झंडा भी है। लेकिन अगर कमी है तो देश का राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय प्रेम से वंचित होना!

आज हर भारतीय के मन में अपने देश के प्रति श्रद्‌धा और लगाव को हर माध्यम से तैयार करना होगा, जिससे वे अपने आप को जिस तरह के भी सीमित क्षेत्रों में बँधे हुए हैं, उससे वे बाहर निकलें और देश के विकास के हर कार्यक्रम में अपने आपको पूरी तरह से जोड़ें। उन्हें महसूस होना चाहिए कि इन कार्यक्रमों से उन्हें कोई लाभ नहीं पहुँच रहा है तो जरूर उनके दूसरे किसी भाई को लाभ अवश्य पहुँचेगा। अगर ऐसी भावना हम उत्पन्न करने में सफल हो सके, तो शायद आगे आने वाले वर्ष बहुत अच्छे होंगे और हमें जो गौरव प्राप्त हुआ है, विश्व के मार्गदर्शन का, इस गौरव को हम हमेशा अपने साथ, अपने देश के साथ बनाए रखेंगे और विश्व के विकासशील

देशों में भारत का नाम जगमगाता रहेगा। इसलिए अब मेरे गीत की पंक्तियाँ हैं—

'मिलजुलकर सब आओ
भारत देश बचाओ।'

अपने पूर्वजों से मिली विरासत को हमें अपने लिए ही नहीं, आने वाली पीढ़ी के लिए भी सुरक्षित सौंपना है, यदि हम उन्हें बेगाना, बेजड़ नहीं बनाना चाहते—और यह सब सोचते मैं मनहीमन दूरदर्शन पर दिख रहे तिरंगे को इस पवित्र गणतंत्र दिवस पर सैल्यूट करता हूँ पूरे गर्व के साथ, जिस पर मेरा पूरा विश्वास और पूरी आस्था है।

कमजोर वर्ग और मेरी यंत्रणा

एक विवाह से लौटे हम दोनों— मैं और मीरा! रात्रि का समय। कड़कड़ाती ठंडक। बुरी तरह कोहरा, सौ गज की दूरी तो क्या, पचास गज पर क्या है वह भी नहीं दिखाई दे रहा।

हवा से बातें करते, गाड़ी में बैठे हम दोनों! सभी शीशे बंद! इतनी सर्दी कि मन कर रहा था कि जल्दी से घर पहुँचें और ब्लोअर का आनंद लें। घर के नजदीक पहुँचते-पहुँचते मीरा ने टोका—आपने देखा?

तब तक गाड़ी मेरे घर के फाटक तक आ पहुँची थी। मीरा का आशय मैं समझ नहीं सका और मेरी आँखें प्रश्नसूचक दृष्टि के साथ मीरा के चेहरे पर जा गड़ी थीं।

मीरा बोली—इधर कई दिनों से उस नुक्कड़ पर एक परिवार आ बसा है। एक महिला और उसके दो बच्चे! एक छप्पर डाल लिया है उन्होंने। पर अभी जो देखा, उससे आत्मा सिहर उठी है, क्योंकि मेरे मन की एक बहुत ही कमजोर नस पर मीरा ने हाथ रख दिया था।

बता रही थीं मीरा—वह सामने एक छोटासा छप्पर है, दोनों तरफ कपड़ा सा छत झूल रहा है और सारा कुछ खुला हुआ, बेपर्द! और सर्दी! एक कथरी में अपने दोनों बच्चों के साथ कैसे जीती होगी वह माँ!

मन ने तमाचा मारा। कलेजे में गरम ब्लोअर धकधकाकर चल पड़ा : टूटी खाट, कोहरा, कैसे सो रहे होगें वे बच्चे, वह माँ! कड़कड़ाती इस ठंडक में वे तीनों!

लिहाफ में पड़ा अपने को नितांत कमजोर महसूस करता मैं मीरा की बात को न जाने कितनी देर तक जीता रहा। आहट पाकर मीरा ने फिर टोका—नींद नहीं आ रही?

मैं चुप। अपनी जबान को तालू से लगा सूख आए हलक को सींचता रहा। लोग पक्के घर में। गद्दों की चारपाई पर। रजाई के अंदर। सब खिड़कीदरवाजे बंद कर सोए हैं, फिर भी सीसी करती ठंडक लगती है। इसे मिटाने के लिए ब्लोअर या हीटर जला लेते हैं और फिर भी सर्दी नहीं जाती। मीरा को जबाव नहीं दिया जा सका। मन फिर सवाल करता, क्या लगती है वह मेरी, उन दो बच्चों वाली वह माँ?

सोचकर मन भर आता है, पर किसी तरह भी मैं उस माँ को, उसके बच्चों को, अपने से अलग नहीं कर पाता—वे कैसे गुजारा कर रहे हैं। उन बच्चों को क्यों यह प्रश्न नहीं बींधता होगा? क्या यही हमारा देश भारत है?

मेरा मन मुझे चटाचट तमाचे मारता पूछता है, क्या यही है हमारा विशाल देश भारत? देश भारत? कहाँ है हम लोग? क्या कर रहे हैं हम लोग? यह तो एक माँ और दो बच्चों की बात है। ऐसी अनेक माँ और बच्चे देश में होंगे, जिनको ऐसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा होगा। मन नहीं माना; देखा, पाया मीरा भी जाग रही हैं। मैंने मीरा से कहा—उठो, अपने बच्चों के ऊनी कपड़े और वह रजाई निकालो—उन्हें जाकर दे आते हैं।

मीरा बोली—पर इतनी रात में।

बिना कुछ आगे बोले, खड़े होतेहोते मीरा ने बत्ती जला दी थी। मैं चुप पड़ा मीरा को अलमारी खोलते कपड़े

छाँटते देख रहा हूँ। मीरा मुझसे एक कदम आगे हैं। मैं जानता हूँ वह दरवान के हाथ कपड़े, रजाई नहीं भिजवाएँगी, वह खुद चलकर उस जगह नुक्कड़ पर जाएँगी।

मैं मीरा को बाहर जाते देख रहा हूँ। मेरे कमरे का ब्लोअर और हीटर मेरे कलेजे में धधक रहा है, क्योंकि मन ने फिर मीरा को बाहर जाते देख चटाकचटाक तमाचे जड़ दिए हैं। एक को सुख देकर तुम उस गरीबी से पार नहीं पा सकते। मैं चुप अपने मन की गरीबी से जल रहा हूँ। मेरे पास जो कुछ है, मैं बाँटकर जीना चाहता हूँ। बाबूजी ने कहा था—'नानक नन्हें हे रहो जैसे नन्ही दूब, और रुख सुख जाएगा दूब खूब की खूब।'

अम्मा के साथ के पल

त्योहार और पर्व के पीछे पूर्वजों की और कोई भावना हो या न हो, पर इतना तो जरूर है कि लोगों के मन में वे अपनों के पास लौटने की भावना,जड़ों से जुड़ने की बात अनायास ही पैदा कर देते हैं। जड़ से कटेउखड़े, मटकते हुए लोग घर, गाँव और देश लौटते हैं। ऐसा कुछ मेरे मन में भी वापस घर, माँ, भाई के बीच लौटूँ। काम की आपाधापी काफी थी, फिर भी, सबको तिलांजलि दे परिवार के साथ दिल्ली माँ के पास पहुँचने की बात सबसे ऊपर हो आई और हम सब दिल्ली के लिए दशहरे पर रवाना हो गए।

रास्ते में जहाँ पलप्रतिपल परिवार, बच्चों और पत्नी के साथ जी रहा था, वहीं ऐसा भी अनुभव हो रहा था कि समय के साथ काफी कुछ छूटता जा रहा था। जैसेजैसे बड़ा होता रहा हूँ, उम्र बीतती जा रही है, वहीं अम्मा के प्रति ज्यादा प्यार, स्नेह और श्रद्धा बढ़ती जा रही है। बारबार मन यही करता है उनके पास पहुँचूँ या वे अपने पास आएँ।

अम्मा के पास पहुँच मन बचपन में लौट जाने को करता है और उस काल की अनगिनत घटनाएँ, यादें आँखों के सामने घूमने लगती हैं।

बहुधा ऐसा भी हुआ है। मैं काम से घिरा परेशानी से भर उठा हूँ। समस्याएँ मुझ पर हावी हो आई हैं, तब अहसास जागा है कितनी ही बार, बचपन के वे दिन फिर से वापस लौट आएँ और मैं उनमें खो जाऊँ । शायद यही कारण है कि मन बारबार अम्मा के पास जाने के लिए मजबूर करता है। मन को टटोलने पर पाता हूँ और कारण, जब समस्याओं से घिरा होता हूँ तो अम्मा के पास रहने के कारण अम्मा के अनुभवों का फायदा उठा, परेशानियों को दूर कर लेता हूँ। मेरे सवालों के जवाब में अम्मा बाबूजी के साथ घटी घटनाओं का चित्रण करती हैं, तो लगता है कि जब इतनी कठिन परिस्थितियों में बाबूजी ने मुसकराते हुए आसानी से यह सब झेल लिया तो उनके पुत्र होने के नाते मैं क्यों भयभीत हो उठता हूँ या क्यों घबराने लगता हूँ?

कारण कुछ भी हो, बात सिर्फ इतनी है कि जब साधारण समय में मैं अपने को अम्मा से अलग नहीं कर पाता तो तीजत्योहार में कैसे उनसे अलग रहा जा सकता है। मन करता है कि ऐसे समय या तो वे साथ रहें या मैं अम्मा के पास आताजाता रहूँ। मुझे अपने में खोयाडूबा देख मीरा बरबस पूछती रही कि मैं क्यों गुमसुम हो उठा हूँ?

उस दिन दिल्ली पहुँच अनोखी बात घटी। इस बार दशहरे पर बाबूजी की बहुत याद आई। मन का कसैलापन दूर करने के लिए मैं मीरा के साथ घूमनेटहलने भोर में ही निकल पड़ा। लखनऊ में रहते हुए भी कई बार, कितनी ही कोशिश की कि सुबह मॉर्निग वॉक पर जाया करूँ, लेकिन थकान, कभी-कभी आलस इस तरह के नित्य का कार्यक्रम नहीं बनने देता। लेकिन इस बार दिल्ली आया तो मौका मिला। सुबह टहलने की बात अचानक बन गई और घूमते हुए मैं बाबूजी की यादों को मीरा के साथ बाँटता रहा।

घूमकर घर लौटें, तो मैंने पाया मेरे भतीजे लगन (अनिल भैया के दूसरे पुत्र) और मेरा दूसरा बेटा वैभव उस बैडमिंटन कोर्ट में, जिसमें हम सब भाईबहन बचपन में बाबूजी के साथ बैंडमिंटन खेला करते थे, खेल रहे हैं।

मीरा को पीछे छोड़ मैं बैडमिंटन कोर्ट में बच्चों के साथ खेलने चला गया। उस खेल से मन बदला। वापस लौट मैं मीरा को साथ ले जाना तो कमरे की तरफ चाहता था, पर वहाँ न जा, उनके साथ फिर हम दोनों लॉन की तरफ चले गए और घरेलू बातें करते, टहलते चक्कर लगाने लगे।

टहलते अब हम दूसरे छोर से लौट रहे थे, तो बाबूजी का वह बरामदा, जिसमें अधिकांशत: सुबह का समय वे बिताते थे और यदि समय मिलता तो कभी-कभी रात्रि के समय भी वे टहलते थे। और मैं याद कर देख रहा था।

उसी के साथ लगा है यह छोटा सा कमरा, जिसमें वे प्रधानमंत्री और इससे पूर्व जब वे गृहमंत्री थे, अधिकांश रहते थे। अब बाबूजी की स्मृति में इस कमरे को एक छोटा सा संग्रहालय बना दिया गया है। जहाँ बाबूजी की खड़ाऊँ हैं, एक छोटे से कलश में बाबूजी की अस्थियाँ हैं, जिसकी पूजा मेरी अम्मा पूरी श्रद्‌धा के साथ रोज करती हैं। अब पूरा घर लाल बहादुर शास्त्री स्मारक बन गया है।

हम टहलते, बातें करते अभी उस छोर पर ही थे कि ऐसा लगा कि उस कमरे के दरवाजे से कोई झाँककर हम लोगों को देख रहा है। कौन होगा, यह जानने के लिए कमरे के निकट वाले छोर पर आया, पर मैंने वहाँ किसी को नहीं पाया। मुझे लगा, संभवत: किसी का होना मेरा भ्रम रहा हो। हम फिर टहलने लगे। अपनी बातों में डूबा दोतीन चक्कर लगाने के बाद एक बार फिर जब मैं दूसरे छोर से लौट रहा था, मैंने पाया, वहाँ से फिर कोई देख रहा है। भ्रम को दूर करने के लिए मैंने मीरा से पूछा—कोई देख रहा है क्या? मीरा ने हामी भरी, बोलीं—अम्माजी हम लोगों को देख रही हैं।

इतना सुनते ही मैं तेजी से कमरे की तरफ लपका, तभी अम्मा कमरे से बरामदे में आ गईं। उनके निकट आते ही मैंने पूछा—क्या देख रही थीं आप?

उन्होंने पहले तो बात काटी, फिर बोली—तुम लोगों को साथसाथ देख बहुत अच्छा लग रहा था।

वे बातें टाल रही हैं। मैं चुप न रहा और मैंने उनसे पुन: पूछा—आप झाँकझाँककर क्यों देख रही थीं?

वे बोली—तुम लोगों को टहलते देख मुझे बीते दिन याद आ गए। ठीक ऐसे ही कभी-कभी हम लोग, यानी मैं और तुम्हारे बाबूजी को यदि समय मिलता, तो हम लोग भी टहला करते थे। पर बहुत कम उन्हें समय मिलता था और मुझे याद आया कितने व्यस्त रहते थे तुम्हारे बाबूजी!

मैं अम्मा के पास और नजदीक आ गया और अम्मा के हाथों को पकड़ते हुए बोला—बहुत छोटे थे हम लोग, जब बाबूजी हमें छोड़कर चले गए, लेकिन यह आपका धैर्य था, आप ही की हिम्मत थी कि आपने पूरे सम्मान के साथ हमें बड़े होने का अवसर दिया और आज हम लोग जो भी हैं, आपके आशीर्वाद से ही हैं।

मैं जब यह कह रहा था, उस पल दूसरी ओर मैं अम्मा के मन की गहराई में भी डूबता जा रहा था, क्योंकि जैसेजैसे मैं उनसे बातें कर रहा था, मैं उनकी आँखों को नम पाता जा रहा था।

कई बार बातें करतेकरते मैं अम्मा से नाराज भी हो जाता हूँ। ऐसे ही एक अवसर पर किसी को नौकरी दिलाने की बात आई तो मैंने अम्मा की बात को नकार दिया। अम्मा ने बाबूजी का उदाहरण दिया कि वे कैसे गरीब, होनहार लड़कों की मदद किया करते थे, इस पर मैंने अम्मा से कहा—बाबूजी के समय और आज की राजनीति में बहुत बड़ा अंतर आ गया है, अम्मा! आज की परिस्थितियों में सबकुछ करना इतना आसान नहीं, जितना आप समझती हैं।

याद आता है, उस पर अम्मा ने मुझसे कहा—परिस्थिति ही मनुष्य को जिस रूप में ढालना चाहती है, उसी रूप में ढाल लेती है। आदमी की कोशिश उसका अपने आप कुछ नहीं होता। धैर्य के साथ अपने आदर्शों को सामने रखते हुए यदि मनुष्य प्रयास करे तो परिस्थिति को अपने अनुरूप बनाया जा सकता है।

और अम्मा ने बाबूजी का एक अनोखा उदाहरण सामने रखा।

यह सुन मैं पानीपानी हो गया। मुझे शर्म आई और मन ग्लानि से भर आया। मैंने अम्मा से ऐसी बातें कह दीं कि जिससे मैं बाबूजी का बेटा कहलाने लायक नहीं रह गया था। मैंने तुरंत अम्मा को वादा किया—आपने मेरी आँखें खोल दी हैं। मैं बाबूजी के आदर्शों को सामने रखते हुए जैसी परिस्थिति आएगी, आदर्शों पर अमल करने की पूरीपूरी कोशिश करूँ गा।

दोस्ती और स्वार्थ

राजनीतिक जीवन, अवाम के बीच रहतेरहते आदमी कितनी ही घरेलू परिस्थितियों से कट जाता है। मैं लगातार कोशिश करता हूँ कि सबकुछ होते हुए भी अपने सामाजिक दायित्वों को बरकरार रखूँ। पर कभी-कभी लगातार की भागदौड़, मीटिंग और सरकारी तामझाम एकदम उबाऊ हो जाता है और उस दिन इसी तरह की मन:स्थिति में बहुत थका हुआ दफ्तर से लौटा। इतना थका था कि जरा भी इच्छा नहीं हो रही थी कुछ करने की। बस मन में यही आ रहा था कि जल्दीसेजल्दी घर पहुँचें। मीरा मुझे खाना दें। खाना खाकर, कोई अच्छी सी पुस्तक ले, हलका सा संगीत टेप रिकार्ड पर लगा लेट जाऊँ। यही सब सोचतेविचारते मैं घर आ, रसोई की ओर बढ़ा और मीरा से कहा—जल्दी से मुझे खाना दो! मेरे लिए मेरी पत्नी अपने हाथों खाना बनाती हैं। खाना देने से पहले मीरा बोलीं—एक कार्यक्रम तो आप भूल ही गए।

भौंवें चढ़ाकर गुस्से में बोला—बाबा, अब कोई काम न बताना, पूरी तरह से चूर हो चुका हूँ।

इस पर मीरा बोलीं—एक दोस्त के यहाँ आप ने कई दिन पहले जाने के लिए आज के दिन का वादा किया था और शाम से कई फोन आ चुके हैं उनके।

मन में बहुत गुस्सा आ रहा था, लेकिन समय तो मेरा ही दिया हुआ था, मीरा पर गुस्सा निकालने से क्या फायदा होता!

दस-सवा दस का समय, सरकारी गाड़ी विदा कर चुका था। मन न रहते हुए भी निजी गाड़ी निकाली और मीरा को साथ ले, हम दोस्त के घर के लिए रवाना हो गए।

गाड़ी चलाते अपने आप से बकबक करता रहा—लोग कुछ समझते ही नहीं औरों की कठिनाई! अपना कोई काम होता तो! बारबार पीछे पड़े रहे कि मैं समय दूँ। अब मुझे क्या मालूम था कि इतना व्यस्त दिन होगा आज का, और इतनी देर हो जाएगी! काश, मैंने उन्हें समय न दिया होता, तो इस आफत से मुक्त रहता।

मैं बकताझकता गाड़ी चलाता रहा। मेरी बकझक पर मीरा ने टिप्पणी की—आप ने यह कैसे समझ लिया कि हर व्यक्ति आप से कुछनकुछ चाहता ही होगा या उसका कुछनकुछ काम होगा। जहाँ तक इस परिवार का प्रश्न है, जहाँ हम चल रहे हैं, उन्होंने आप से समय माँगा, आपने समय दिया। एक बार समय देने के बाद चाहे जैसी भी कठिनाई हो, वहाँ पर जाना आप का फर्ज बनता है और फिर वे तो आपके दोस्त हैं!

उस पल मीरा की बातें मुझे जरा भी अच्छी नहीं लग रही थीं। समय काफी हो चुका था, थक इतना चुका था और बस मन यही कर रहा था कि जल्दीसे जल्दी वहाँ पहुँचें, दसपाँच मिनट लगा, खानापूर्ति कर, वापस लौट आऊँ।

मीरा मेरी परेशानी को अच्छी तरह समझ रही थीं। मेरा मन बदलने के लिए उन्होंने चर्चा छेड़ दी—वे आपके दोस्त हैं, उन्हें आप दोस्त मानते हैं, दोस्ती स्वार्थ के लिए नहीं की जाती।

कभी-कभी मीरा की एक छोटी सी बात मेरे पैरों तले की जमीन खींच लेती है। अचानक कही गई उनकी इस बात का एक जबर्दस्त प्रभाव मुझ पर हुआ और मैंने मन की गहराई में पैठते हुए पाया: यह कैसे मन कर लिया कि उनका कोई मतलब होगा मुझे बुलाने का। जब वहाँ पहुँचे, तो मैंने पाया, पूराकापूरा परिवार यहाँ तक कि छोटेछोटे बच्चे भी उस घर के, हम लोगों का इंतजार कर रहे थे, बिना खाएपीए।

इस सबने मीरा की बात पर एक और गहरी छाप डाली और मैं अपनी भूल समझते हुए प्रायश्चित्त की मुद्रा में उन लोगों के सामने कुछ न बोल सका।

जहाँ दस मिनट में लौटने का इरादा था, वहीं दोढाई घंटे कब बीत गए, हमें पता ही न चला।

जब लौटे तो मेरी सारी थकान, सारी परेशानी दूरदूर तक नजर नहीं आ रही थी। एक अनोखे उत्साह से हमारा मन भरा हुआ था। मैं सचमुच अपनों के बीच जीकर कुछ बाँट, कुछ पाकर आया था।

बाबूजी को दिए गए संकल्प को पूरा करने में मुझे न जाने कितनेकितने लोगों का सहयोग मिला है, याद करता हूँ वहसब तो मन रोमांचित हो उठता है, काश! जीवन के मोड़ पर वे सारे लोग न मिलते उन सबसे सहारा न पाता, तो क्या बाबूजी को दिए गए वादों को पूरा करने का अवसर मिलता—शायद नहीं!

बाबूजी के न रहने पर घर का सारा भार अम्मा पर आ पड़ा था। मेरा किशोर मन उस भार को बाँटने के लिए व्याकुल हो उठता। क्या करूँ कि अम्मा का हाथ बँटा सकूँ। परेशान भटका करता। रात में सोते से अचानक नींद खुल जाती और लगता मैं चारों तरफ लोहे की मोटी चारदीवारी से घिरा हूँ। बाहर निकलने का कोई मार्ग या रास्ता ही नहीं सूझ रहा। पब्लिक लाइफ का, लोगों की सेवा का, जो बिरवा बाबूजी मेरे मन के आँगन में लगा गए, उसे बिना पानी दिए ही वे एक अनंत असीम में जा छिपे हैं। सच मानिए, वह बिरवा काफी ढीठ था, सारी आँधियों के बावजूद वह बढ़ चला। अब जबकि इतना समय निकल चुका है, उस बिरवे की बात आपसे किए बिना नहीं रहा जा सकता।

परेशान होते, भटकते, जब कहीं कोई आशा की छोर नजर न आई तो मन में आया, क्यों न मैं इंदिराजी से मिलूँ। मेरे लिए वे नेता होने से पहले एक माँ हैं। अगर उनका ममत्व जीत सका, तो वे जरूर राह दिखाएँगी। यह विश्वास मन में घर कर गया। इसके भरोसे मैं अकसर इंदिराजी से मिलता और उनसे कहता—मुझे सक्रिय रूप से राजनीति में आने का अवसर दीजिए, मैं चाहता हूँ कि जिस तरह से हमारे पूजनीय पिता—लाल बहादुर शास्त्री ने पंडितजी के साथ रहकर काम किया और आजीवन उनके विश्वासपात्र रहे, अपने संबंध में, उतनी बड़ी बात तो नहीं कह सकता, शायद उतना सब मेरे लिए संभव भी न हो, फिर भी शास्त्रीजी के पुत्र होने के नाते इतना मैं जरूर कहूँगा कि एक परिवारिक रिश्ता, जो बाबूजी कायम कर गए हैं, उसे और पक्का बनाने में मेरी ओर से आप कोई भी कमी नहीं पाएँगी। मुझे सेवा करने का एक अवसर चाहिए। विश्वास है कि मुझे आपसे पूरापूरा सहयोग मिलेगा। मुझे अच्छी तरह याद है, इंदिराजी की हँसती हुई आँखें, जब उन्होंने पहली बार मेरी बात सुनी थी और उन आँखों में जो ममत्व का भाव मुझे दिखा, वह मेरे जीवन की अथक थाती है, जो हमेशा चंदनमणि की तरह जगमगाती मुझे रास्ता दिखाती रहेगी। कैसी ममत्व भरी आँखों से हँसते हुए उन्होंने कहा था—देखो, मौका मिला, तो जरूर बात करेंगे।

समय गुजरा। सीन बदला। फिर कई मुलाकातों के बाद उनके साथ एक और भेंट। मुझे ठीक याद है, एक नंबर सफदरजंग के लॉन का वह हरित वातावरण। हलकीहलकी दिल्ली की असामयिक बूँदाबाँदी और पेड़ों के कचोए रंग वाले धुले, साफ हरे पत्ते। हवा शरीर को चूमती सिहरन पैदा करती। ऐसे में आप हों और इंदिराजी हों, और वे आश्वासन देते हुए आपके पीठ पर अपना स्नेहिल हाथ रख दें। उनके हाथों की वह छुअन, विश्वास कीजिए, मुझे बाबा गोरखनाथ के क्षेत्र में ले जाकर खड़ा ही नहीं करती, बल्कि जीवन में एक ऐसा मोड़ दे देती हैं, जैसे उस पल जनमानस के सेवा करने की बात मेरे गिरेबान में डाल दी गई हो।

चुनाव आया, उत्तर प्रदेश विधान सभा के लिए गोरखपुर से चुनाव लड़ने के लिए मुझसे कहा गया। गोरखपुर उससे पूर्व मेरे लिए केवल भूगोल के नक्शे में ही था। एकदम अनजाना क्षेत्र। एक अनोखी समस्या मेरे गले पड़ गई थी। कैसे होंगे वहाँ के लोग? क्या उनसे मुझे इच्छानुकूल सहयोग मिलेगा? चुनाव की बात कोसों दूर, आकाशकुसुम जैसी लगी थी उस पल।

एक अनोखा भय। जरा सोचिए, तीस साल की उम्र। पत्नी और दो बच्चे, क्या इन सबको तिलांजति दे नए

रणयुद्ध में उतरा जा सकेगा? घर, पत्नी, बच्चों की देखभाल, कहीं अगर सफलता न मिली तो? इस 'तो' के आगे आ खड़ी होती बाबूजी की महानता, उनका देशप्रेम, उनका व्यक्तित्व, वह छाप जो जबरन मुझसे कुछ करवा लेना चाहती थी।

बचपन से मैंने बाबूजी को सक्रिय राजनीति में जूझते देखा था। उन्होंने तो देश के सामने कभी परिवार की बात सोची ही नहीं। बाबूजी ने अगर कभी हम लोगों के बारे में सोचा होता—तब वे अंग्रेजी फिरंगी सरकार के आगे सीना तान जेल की रोटियाँ तोड़ने न जा पाते। जेल जाकर माफीनामा लिखने में देर ही कितनी लगती है, पर फिरंगी सरकार उनसे माफीनामा लिखाने में हार गई। इस सोच ने साहस दिया : अरे सुनील, अभी से घबरा रहे हो तो देश की सेवा क्या करोगे? पर विश्वास कीजिए, मेरे मन की घबराहट, इंदिराजी का स्नेह और बाबूजी का आशीर्वाद—टिकट न मिले, ऐसी कोई आशंका भी नहीं। एक तरफ जहाँ कमजोर मन मुझे पीछे खींच रहा था, दूसरा बलवान मन मुझे आगे बढ़ावा दे कहता : अभी तैयारी करो, टिकट तो मिलने ही वाला है।

हजार तरह के संशय में डूबताउतरता मैं। इसके द्वंद्व से एक लंबी अवधि तक छुटकारा ही नहीं मिल पा रहा था। मुझे साहस के लिए एक सहारा चाहिए था। जिसतिस से पूछता, अधिकांश यही कहते—राजनीति तो जुआ है—चले चले, न चले, न चले। इतनी अच्छी लगीलगाई नौकरी को तिलांजलि! न बाबा, मुझसे कहा जाए तो मैं यही कहूँगा, ऐसा जोखिम उठाने की अभी उम्र नहीं तुम्हारी।

कुछ लोग और रुकने की सलाह देते। मन न माना, कहने लगा : अरे सुनील, जीवन के तो निकल चुके हैं तीस साल। काल करे सो आज, आज करे सो अब। अगर बाबूजी को दिए गए वचन को निभाना है, तो सोचने से, चिंता से कभी समय नहीं आएगा अपने आप। उठो और कूद पड़ो। याद आती थीं बाबूजी की कहीं बातें। जनता के बीच जाने का 'वह' अवसर काश उन्होंने मुझे न सौंपा होता। बात है उनके ताशकंद जाने से या यूँ कहूँ उनके मौत को गले लगाने से पूर्व की। वे मुझसे जो आशाएँ रखते थे, वे प्रश्नसूचक बनी मेरे सामने आ खड़ी हुईं, चुनौती देने लगीं।

जब कुछ समझ में नहीं आया तो उन प्रश्नों का उत्तर खोजतेखोजते बरबस अम्मा के सामने जा खड़ा हुआ। मेरे अगलबगल दो बच्चे थे और पीछे पत्नी। जिम्मेदारी का एहसास जीवन को किस तरह सालता है—काश, मैं अपने मन की पीड़ा, उलझन और ऊहापोह को ज्योंकात्यों आपके सामने रख, बता सकता, पर शब्दों में वह संभव नहीं।

किसी तरह अम्मा के सामने अपनी समस्या रखी और बोला—आप ही बताइए, मुझे क्या करना चाहिए?

अम्मा ने उलटे ही मेरे सवाल के जवाब में एक और सवाल खड़ा कर दिया, जिसके बारे में मैंने कभी सोचा ही नहीं था। बोलीं—तुम राजनीति में आना क्यों चाहते हो, सुनील? मुझे बताओ।

एक पल रुका और मुझे सारा रास्ता साफ, स्पष्ट सा दिखने लगा। मैं बोला—बाबूजी की कही कितनी ही बातें हैं अम्मा, जो बारबार मुझे झकझोरती हैं। बाबूजी के जाने कितने अरमान, कितने स्वप्न अधूरे पड़े हैं, जिन्हें वे मुझे सौंप गए हैं, जिन्हें मैंने अपने मन के कोने में बरसों से दबा रखा था, वे मुझे प्रेरित करती हैं, उकसाती हैं—पहल करने को, कदम उठाने के लिए।

और इंदिराजी ने कहा था—सुनील, तुम गोरखपुर के चुनाव जीत लोगे न? और प्रश्न करते हुए जितनी गहरी, पैनी निगाह से उन्होंने मुझे तौला था, उससे कहीं अधिक चुस्त और तीखेपन के साथ मेरी अम्मा ने मुझे एक पल देखा,

घूरा और फिर हँस पड़ीं—तब मुझसे क्या पूछते हो, बाबूजी से पूछ लो।

उनके प्रश्न के उत्तर में इस नए प्रश्न ने एक चटखना सा मुझे मारा। हवा के पंखों पर आकाश में उड़ता, कल्पना के महल बनाता, मेरा मन एकदम धराशायी हो चुका था। कुछ अचकचाया सा घूरकर देखा मैंने अम्मा की आँखों में और कहने लगा—बाबूजी से! उनसे कैसे पूछा जा सकता है अब यह सब? बाबूजी हमारे बीच कब से नहीं हैं—यह पूछना कैसे हो सकता है?

अम्मा हँसती ही जा रही थीं मुसकराकर। उनसे जबाव न पा, मैं कहता ही गया—पर कोई तरीका तो बताइए, उनसे कैसे पूछा जाए?

मेरे इस सवाल पर अम्मा ने जोड़ा—जब भी मेरे मन कोई बात आती है, दुविधा में पड़ जाती हूँ तो मैं तुम्हारे बाबूजी से ही सलाहमशविरा लेती हूँ।

मैंने आगे कहा—मुझे भी यह तरीका बताइए कि मैं भी उनसे जवाब पा सकूँ अपनी शंकाओं का, समस्याओं का?

उन्होंने कहा—अच्छा सुनील, एक काम करो। तुम दो परचियाँ बनाओ—एक में लिखो 'हाँ' और दूसरे में 'नहीं'।

मेरे मान जाने पर उन्होंने सलाह दी—हम चलते हैं बाबूजी की समाधि पर। हमें साथ ले वे वहाँ गईं। हमारे साथ 'हाँ' और 'नहीं' लिखी दो परचियाँ थीं। समाधि के सामने खड़े हो अम्मा ने कहा—तोड़-मोड़कर परचियाँ सामने रख दो और आँखें बंद कर बाबूजी को याद करो, बेटे! और उनसे सवाल करो। फिर बाबूजी से किए गए सवालों के जवाब में एक परची उठाओ। उनसे जैसा निर्देश मिले, वही करो। वही तुम्हारे लिए बाबूजी का दिया आदेशनिर्देश होगा।

काश, अम्मा ने समाधि पर आने से पूर्व यह सारी बात बता दी होती, तो शायद मैं यहाँ उन्हें उलझन में डालने की कोशिश ही न करता। मैंने आपसे कहा न, स्वप्न अच्छे लगते हैं, बहुत भाता है मन को कल्पना के पंखों पर उड़ना, पर जब वह स्वप्न यथार्थ का जामा पहना आ खड़ा होता है तो उससे एकदोचार होने पर आटेदाल का भाव पता चल जाता है। वही सब मेरे साथ हो रहा था।

बाबूजी की समाधि पर सामने पड़ी थीं परचियाँ, लेकिन आप मेरी नई उठ खड़ी हुई परेशानी का अंदाजा लगा ही नहीं सकते। मन कैसा सशंकित हो उठा था उस पल। कहीं मैंने उठाया और मेरे सामने 'इनकार' वाली परची खुल गई तब। तब क्या फिर वापस लौटा जा सकेगा। जीवन की अभिलाषा, इच्छा और बरसों देखे, जिए, सँजोए गए स्वप्न का क्या होगा? अंतर्द्वंद्व था कि बाबूजी के न होने पर उठाई गई परची में निकला आदेश जीवन की राह तय कर देगा। समझ में नहीं आता, मैं किस तरह उस क्षण के अपने मन के भाव, परेशानी और उलझन को आपके सामने बयाँ करूँ। मैं ऐसा भुक्तभोगी था, जिसकी गति साँपछछूँदर जैसी हो उठी थी उस पल। वह सब मन की कमजोरी ही तो थी।

इंदिराजी के इतना पीछे पड़कर उन्हें राजी किया था, उस सारी मेहनत और भागदौड़ का क्या बनेगा? कहीं सारी बातें पर पानी न फिर जाए, जहाँ वह विचार मन में आया, वहीं यह बात भी आ खड़ी हुई कि अभी तक तो सक्रिय राजनीति केवल सपनों का महल ही थी। यदि वह करनी पड़ी, तो जो चुनौती सामने आएगी, क्या उसके लिए मैं सक्षम हूँ, उसे पूरा करने की सामर्थ्य कहाँ से लाऊँगा? एक तरफ कुआँ, दूसरी तरफ खाई। क्या करूँ? कैसे करूँगा?

पूरी तरह मन का नक्शा साफ याद आ रहा है। लगा, जैसे बाबूजी सहारे के लिए पास आ खड़े हुए हैं। जहाँ, एक दिन पहली बार मैंने इंदिराजी के सामने अपने मन की गाँठ खोली थी और उन्होंने मेरी पीठ पर स्नेह से अपना हाथ

रखा था, वही शरीर में उसी स्थल पर उनके स्पर्श का अहसास ताजा हो गया, वह स्पर्श इंदिराजी के स्पर्श से बदलकर बाबूजी वाले स्पर्श की गरमी में परिवर्तित हो उठा।

कैसा शांत था वह समाधिस्थल। मन से उलझते मैं शांत खड़ा था, देखा पाया, हलकी हवा चलने लगी है। आसपास की झाड़ियों, पेड़ों पर हवा का स्पर्श। एक पल में सारा माहौल जैसे बदल गया। मनहीमन बाबूजी को याद कर प्रणाम किया। मन ने दोहराया : आपका आशीर्वाद हमेशा मिला। अभी भी वह मेरे साथ है। प्रार्थना है कि आज की तरह भविष्य में भी वह मेरे साथ रहे और आगे भी मेरा मार्ग बताते रहें। लेकिन आज जीवन के एक बहुत गंभीर और महत्त्वपूर्ण फैसले की बात आई है। काश, मेरे सामने यदि आप आज होते, तो हम लोग इस सवाल के जवाब में न जाने कितनी देर और कितने दिनों तक विचारविमर्श करते रहते, पर आज हमारेआपके बीच कागज के ये दो छोटे टुकड़े हैं, जिसमें एक पर 'हाँ' और दूसरे पर 'नहीं' मैंने ही लिख रखा है। मेरे जीवन की धारा, मेरे जीवन का रास्ता इन दो शब्दों में से एक पर बँध जाने वाला है।

मेरी आँखें बंद थीं। मन में उतावलापन। बाबूजी, उनकी कितनी बड़ी कमी मैं उस पल अनुभव कर रहा था। काश, वे इस पल मेरे पास होते। और तभी मैंने आँख खोली, तो पाया आसपास पड़ी दोनों परचियों में से एक मेरी ओर हवा के हलके थपेड़े से खिसक आई है। हलके किनारे से स्पंदित हो मेरी ओर सरक आने वाली परची में कितना हाथ भाग्य का, कितना विधाता का है, यह मैं नहीं जान सकता, पर उस पल यही लग रहा था कि वह घेरा जिसे आप माहौल कहें या कुछ और, वह तब मुझे अपने आसपास अपने बाबूजी की उपस्थिति महसूस करवा रहा था। लाजमी था कि पास बढ़ आई हवा के झोंके वाली परची ही मैं उठाऊँ। मैंने उसे उठा, बिना खोले और बिना देखे अम्मा की तरफ बढ़ा दिया।

अम्मा ने उसे बिना लिये ही मेरे हाथ, मेरी ओर लौटाते हुए कहा—यह तुम्हारे लिए है, तुम देखकर मुझे बताओ।

कहना न होगा उसमें 'हाँ' ही लिखा था। उस पल मैंने दोंनों हाथों से अम्मा को भर लिया और पाया वे मेरा माथा चूम रही हैं। उनकी पुच्ची की गरमी अभी भी, जब मैं आपके साथ बाँट इसे जी रहा हूँ, तो मेरे माथे पर जहाँ पर उन्होंने ममत्व से चूम लिया था वह सारी जगह पूरे ममत्व और सलोनी ममता से भरपूर चुनचुना आई है।

इंदिराजी ने प्रश्न और पैनी निगाह से तौलते हुए पूछा था—सुनील, तुम गोरखपुर से चुनाव जीत लोगे?

और मेरा उत्तर—जीतूँगा जरूर, लेकिन यह कहिए आप मुझसे यह पूछ क्यों रही हैं?

साथसाथ चलते, मेरे सवाल का उत्तर देने से पहले ठिठककर उन्होंने अति प्यार और गहरे स्नेह से मेरा हाथ पकड़ा था और कह उठी थीं—इसलिए कि मैं चाहती हूँ कि तुम चुनाव जीतकर ही लौटो।

यह बात बताना अनावश्यक न होगा कि इंदिराजी में वक्त पहचानने की अदृश्यमयी ताकत थी। समय देख वे जो भी कदम रखती, हमेशा खरा उतरता।

मेरी आँखें उनसे कह रही थीं कि आप के विश्वास के समक्ष मैं भी खरा उतरूँगा। आप की बात सिर आँखों पर। और उनका स्नेह मेरे चलते समय, आशीर्वाद का प्रतीक था।

राजनीति के चक्के में सबसे बड़ी कमी अगर कोई आड़े आती है तो वह है समय की। कितना भी कुछ कीजिए, समय पूरा पड़ता ही नहीं।

यह उस पल से ही समझ में आ गया, जब मैं दिल्ली से गोरखपुर के लिए चला। अगले दिन ढाई बजे तक गोरखपुर

पहुँच नामांकन के परचे दाखिल कर देने थे।

कार से लखनऊ पहुँच मीरा और अपने दोनों बच्चों को छोड़ वहाँ से गोरखपुर—अनिश्चित गंतव्य की ओर। रात साढ़े दस बजे अम्मा का आशीर्वाद ले कार में जा बैठा।

दिल्ली पीछे छूट गया।

मन एक नए उत्साह से भरा था। जोश मन से आगे भाग रहा था। बकलम खुद गाड़ी चलाने के लिए स्टेयरिंग पर।

पत्नी से जो बातें हुईं, उसका लेखाजोखा अक्षरश: याद है। समय आने पर वह फिर कभी। अभी तो बस मन की जानिए, जो मोटरगाड़ी से हमेशा आगे, मीलों आगे भाग रहा था।

आठ बजे लखनऊ जा धमका। वहाँ बैंक ऑफ इंडिया में नौकरी कर रहा था उन दिनों। बिना नहाए, बिना खाएपिये मीरा और बच्चों को लखनऊ छोड़ मैं लगभग दो बजे के आसपास गोरखपुर में था।

गोरखपुर का वातावरण तो और ही जानलेवा। यूँ समझिए कि सर मुड़ाते ही ओले पड़े। यहीं से आरंभ होती है राजनीति। बाबूजी के श्रीचरणों, उनके पदचिह्नों पर चलने की कहानी।

गोरखपुर।

वहाँ दो बजतेबजते कितने ही लोगों को अंदाज हो उठा था कि मैं मैदान छोड़कर पलायन कर चुका हूँ। कई लोगों ने डमी कैंडीडेट खड़े कर नामांकन भी भर डाले थे।

कई और लोगों के चेहरे पर निराशा के चिह्न इसलिए भी दिख रहे थे कि मैं क्यों ऐन वक्त पर आ पहुँचा हूँ। उन्हें भरोसा हो चला था कि मेरे न होने पर मैदान उनके हाथ होगा।

कई लोगों के चेहरे पर अतिशय खुशी की झलक भी दिखी। लगा जैसे उन्हें कोई खोई निधि हाथ आ लगी हो। इनमें से कई लोग ऐसे थे, जिन्होंने बाबूजी को नजदीक से देखा और सुना था। उन्हें यह कमी महसूस हुई थी, क्योंकि शास्त्रीजी को खो दिया है। मुझे वहाँ पर देख उन्हें लगा जैसे शास्त्रीजी फिर से उनके बीच वापस आ गए हैं। गोरखपुर में पहले पहल सामने आई ऐसी मिलीजुली प्रतिक्रिया किसी को भी सचमुच परेशान करनेवाली थी। मैंने कभी इस तरह की उलझनों को जियाभोगा नहीं था। हाँ, कभी-कभी बाबूजी के आसपास के राजनीतिक अपनी समस्याएँ लेकर आते थे। वह सब मेरे लिए उस काल में दूर की बातें थीं, प्रत्यक्ष अनुभव की नहीं। पर मैंने मन की गहराई में अपने को डाल उन प्रतिक्रियाओं का उत्तर जल्दी निकाल लिया, क्योंकि मेरे पास मेरे बाबूजी का अनुभव था, जो मुझे विरासत में मिला था। उस सहारे पर तो मैं गर्व कर ही सकता हूँ।

अभी नामांकन पत्र भरने की प्रतिक्रिया में ही था कि पाया एक साथ पंद्रहबीस लड़कों का एक झुंड कमरे में दाखिल हुआ। उनमें से एक युवक जिनका नाम बाद में पता चला, शायद वह उनका सरगना ही रहा हो, पर उस पल तो उसकी तेज आवाज ही कानों को कुरेद रही थी और वह कह रहा था—जी, स्काई लैब आ गिरा है। एक बाहर के आदमी को गोरखपुर से चुनाव लड़ने के लिए भेजा गया है।

मैं परदेसी हूँ। बाहर का हूँ। देश में भी परदेशी। मन ने प्रण किया कि सबसे पहले इस खाई को पाट बराबर करना होगा।

क्या किया जा सकता है? मन से मैंने प्रश्न किया।

मन से जवाब मिला, इसे मित्र बना लो, सुनील! इसे जीत लो।

मैंने अपना नामांकन पत्र उसके सामने रखा और प्रस्तावक के रूप में उस पर हस्ताक्षर करने का अनुरोध किया।

एक पल उसने मुझे निहारा और फिर बिना कुछ कहे, बिना किसी उज्र के हस्ताक्षर कर मेरा नाम प्रस्तावित कर

दिया। आप मानेंगे, चुनाव के दौरान वह मेरे काफी निकट आ गया। उसे साथ रखा। उसने मदद की। पाया, लोगों की आम धारणा कितने गलत तथ्यों पर आधारित हो, अच्छेभलेमानस को भी गलत काम कराने पर मजबूर कर देती है। लोगों का आरोप था कि वह नवयुवक गुमराह है। गलत लोगों के साथ उठताबैठता है। गलत काम करता है।

सबकी सुन मैंने बीड़ा उठाया कि अपने मित्र की राह बदल देनी होगी। फैसला किया भले ही यह नौजवान गलत है, लेकिन अब जबकि मैंने अपना मित्र बनाया है, तो उसे सुधारना होगा। बाबूजी ने ऐसा कितनी ही बार किया है। उनके संपर्क में आए लोग बदले हैं। मैंने तय किया कि चलो यह प्रयोग ही सही। आखिर मुझे सफलता मिली।

आज मेरा यह साथी गाड़ी में था। हम लोग नगर के एक स्कूल के सालाना जलसे में गए। यहाँ मेरे बेटे पढ़ते हैं। मैं उस जलसे का मुख्य अतिथि। लाजमी है समारोह के अंत में मुझे बोलना पड़ेगा। ऐसा क्या कहा जाए कि बात बच्चों के दिलदिमाग को छुए, उन पर असर करे!

बच्चों से बात करने में एक अनोखा आनंद आता है। मेरी बात भाषण वाली न हो, मैंने इसके लिए सजगता बरती। दूसरों को शिक्षा देना बहुत आसान है, लेकिन वह सब सिर के ऊपर से चली जाने वाली है। आखिर मैं भी पिता हूँ और मेरी भी जीजान चेष्टा और अथक कोशिश का फल यह रहा है कि लगभग हर जुमले पर बच्चे रहरहकर हँसते और ताली बजाते रहे। मेरी बात में बच्चे ही शामिल नहीं हुए बल्कि उनके अभिभावक और मातापिता भी आनंद लेते और हँसते रहे। उनकी बताई बातों के बीच की एक घटना अभी भी याद है और शायद सारी जिंदगी मेरे मन पर छाई रहेगी। उन दिनों बाबूजी केंद्र में रेल मंत्री थे और मैं दिल्ली के सेंट कोलंबस स्कूल का विद्यार्थी।

कहना न होगा कि हमें होमवर्क मिलता और उसे पूरा न करके जाने पर केनिंस होती। मार का डर कि शायद क्रिकेट के दिन थे। मैच चल रहा था। फलस्वरूप मैं छुट्टी के सारे दिन खेलता रहा और होमवर्क पूरा नहीं कर पाया। फिर सोमवार को स्कूल जाने की बात तो यमराज के यहाँ जाने जैसी लगती थी। उस दिन सुबह के उठते ही बहाना बनाया कि मेरे पेट में मेरे बहुत तीखा दर्द हो रहा है। अम्मा ने बात सुनीअनसुनी कर दी तब और कोई चारा न देख बाबूजी के पास गया। देखा, वे अपनी फाइलों को निबटाने में लगे हैं। चुप उनके पास जा, पैरों के पास घुटने में सिर छुपा बैठ गया। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ फेरते पूछा—क्या बात है? स्कूल के लिए तैयार नहीं हुए?

मैंने पूरा नाटक करते हुए अपने पेट के दर्द की रामकहानी सुनाई। उन्होंने बात सुनी और धीरे से मेरा सिर थपथपाते हुए कहा—अच्छाअच्छा!

फिर वे अपनी फाइलें निबटाते रहे और मैं उसी तरह उनके प्यार-सान्निध्य पाता उनके पैरों के पास सिर गड़ाए बैठा रहा। मेरा ध्यान बाहर की आवाजों पर लगा था, क्योंकि हरी भैया और अनिल दोनों स्कूल जाने की तत्परता में लगे थे। जब गाड़ी उन दोनों को लेकर चली गई तो बाबूजी ने फिर मेरा सिर थपथपाते कहा—जाओ, अब तुम्हारे पेट का दर्द ठीक हो गया होगा। मैं उनके मुँह की तरफ देखता रह गया। उन्होंने आगे कहा—गाड़ी गई। आज तो ठीक, अब आगे से कभी तुम्हें पेट का दर्द नहीं होना चाहिए।

इतना सुन मैं वहाँ भी न रुक सका, मेरी चोरी पकड़ी जा चुकी थी।

बच्चों को भी समझाने का उनका तरीका था।

इस तरह की जाने कितनी खट्टीमीठी यादों को दोहराते हम चल रहे थे। गाड़ी भाग रही थी और मैंने देखा मेरा मित्र, गोरखपुर का अनोखा साथी, वह नवयुवक चुप अपने में खोया हुआ था। उसने न जाने कितने भाषण, कितनी मीटिंगों में मुझे सुना है, लेकिन बच्चों और उनके मातापिता से बतियाते, भाषण करते नहीं, माईक पर बतियाते नहीं देखा, इसलिए कार में बैठने से पूर्व वह मेरे निकट आ, हाथ छू जिन आँखों से देख रहा था, उसमें न जाने कितनी अनकही किताबों के पन्ने फरफराकर गुजर गए। और चलती कार में मैंने पाया विनम्र, मेरा बड़ा बेटा, मेरे पास आ

मुझसे चिपकर बैठ गया और बोला—पापा, आज आप बहुत अच्छा बोले।

जब कभी भी किसी मीटिंग या संगोष्ठी में मेरे साथ मेरी पत्नी होती है तो मैं उनसे हर बार सवाल करता हूँ अपने भाषण पर उनकी प्रतिक्रिया जानने के लिए। उन सबसे मुझे अपने को जानने, सुधारने का साहस मिलता है। लगता है, मेरा बेटा जो कि अब किशोर हो चला है, मेरी हर बार की आदत को बचपन से सुनतादेखता रहा है या कि कुछ और कि मेरे मीरा से प्रश्न करने से पहले ही कह बैठा था—पापा, आज बहुत अच्छा बोले। फिर जिस तरह वह मेरी बाँहों से चिपक आया, उसका वह स्पर्श, मुझे खींचकर अचानक अपने बचपन की तरफ ले गया।

उस समय मैं विनम्र से काफी बड़ा रहा हूँगा। शायद पंद्रह से ऊपर बाबूजी उस समय प्रधानमंत्री थे। वे एक भाषण के बाद घर लौटे थे। वहाँ कमरे में घर के कई और लोग थे, सभी की बातें सुनतादेखता रहा। धीरेधीरे प्रशंसकों के चले जाने के बाद वहाँ कमरे में बाबूजी के साथ मैं और मेरी अम्मा ही रह गए। मैं धीरे से उठा और बाबूजी के निकट आ बोला—आप आज बहुत अच्छा बोले। कहते उस क्षण मेरा गला भर आया था। कुछ आगे बोल पाना कठिन था।

बाबूजी मेरी मन:स्थिति पूरी तरह समझ रहे थे, बोले—अच्छा, आपको भी बहुत अच्छा लगा, बताइए क्याक्या अच्छा लगा? मैंने जेब से कागज निकाल उसमें नोट की गई बातें पढ़कर कर सुनाईं। और बात के अंत में अनायास ही यह जोड़ दिया—अगर आप अपनी बातों के साथ इतनी बात और जोड़ देते तो...। मैं भारत के प्रधानमंत्री से नहीं अपने बाबूजी से बात कर रहा था, जिससे मैं अपने मन का सच बाँटना चाहता था। बाबूजी ने मुसकुराकर अपना सिर हिला दिया। आज जब विनम्र मेरी बाँहों में चिपट, मेरे भाषणों की नहीं, माइक पर की गई बातचीत की तारीफ कर रहा है, तो बातों का एक पुल बन आया है, जो मेरे बेटे से ले जाकर मुझे मेरे बाबूजी से जोड़ता है। विश्वास कीजिए, मैं किसी गरिमा या गर्व के तहत इस घटना को आपके साथ बाँटकर नहीं जी रहा, क्योंकि जानते हैं अम्मा के नाखुश होने पर भी बाबूजी के वात्सल्य में डूबे हाथ मुझे अपने में भर खींच लाए थे और वे कह रहे थे, अगली बार जब फिर कभी इस विषय पर बोलूँगा तो तुम्हारी बात को जरूर जोड़ दूँगा। ध्यान में रखकर कहूँगा।

और मुझे विदा कर मेरे बाहर जाने पर वे अम्मा से बतियाने लगे थे। अम्मा अब बताती हैं कि उन्होंने अम्मा को सावधान करते कहा था—बच्चों के उगते मन को, उनकी इच्छाओं को, विचारों को इस तरह कभी नहीं दबाना चाहिए।

विनम्र को इस तरह बाँहों से चिपकाकर मैं मीरा से वह सब कहना चाहता हूँ, पर मीरा मूड में नहीं है। कल रात हमारी उनसे गरमा-गरमी हो गई है। हमने एक जमाने पहले यह तय किया था कि मुझे सरकारी काम से 25 और 26 को नैनीताल जाना है। हम उससे एक दिन पहले वहाँ जाएँगे और 24 का सारा दिन मेरा परिवार का दिन होगा तथा मेरे लिए छुट्टी का।

सक्रिय राजनीति में मैं औरों की तो नहीं, पर अपनी आपबीती होने के कारण कुछ सही बातें ऊपर आपके साथ कह, जीना चाहूँगा। क्योंकि पश्चिम की तरफ अपने देश में राजनीतिज्ञ के लिए प्राइवेट और जगजाहिर कुछ भी अलगअलग नहीं होता, इसलिए उस दिन की छुट्टी का इंतजार महीनों से मन में सँजो रहा था। जैसेजैसे छुट्टी का वह दिन नजदीक आता गया, मन का उत्साह बढ़ता गया।

23 की सुबह लखनऊ और घर आते ही पाया, मीरा अपने में व्यस्तमस्त। सामान वगैरह नहीं रखा गया है अभी तक। पूछने पर पहली बात पत्नी ने कही—विभोर की तो छुट्टी है, पर विनम्र वगैरह की नहीं, वे नहीं जा पाएँगे।

मैंने अपनी तरफ से जोड़ा—चलो, कोई बात नहीं, ये दोनों अगले दिन जब और सरकारी अफसरान मीटिंग के लिए आएँगे, उनके साथ नैनीताल पहुँच जाएँगे। इस पर मीरा अटकी—छोड़ के जाएँगे कैसे? किसके पास? अब

बड़े हो रहे हैं। ऐसी उम्र में लड़कों को अकेले नहीं छोड़ा जा सकता।

मैं पत्नी के आशय को नहीं समझ पाया और मुझे गुस्सा आ गया। उन्होंने मेरे विचारों की तनिक परवाह नहीं कि मैं बेलाग कह गया—तो मैं आपको छोड़कर जा रहा हूँ। एक दिन अपना होगा। कहीं खुले में बैठूँगा, पढ़ूँगा—मैं जा रहा हूँ।

पत्नी ने समझाने की कोशिश की। मैं उन्हें बताने में अपने को असमर्थ पा रहा था कि इस दिन का कितनी बेसब्री से मुझे इंतजार था, जिस पर उन्होंने पानी फेर दिया और वे जिन्होंने मेरी जाने कितनी तन्हाइयों, कठिनाइयों में साथ दिया, जिया था, कहे जा रही थीं—रसोई की पुताई हो रही है। 28 को अम्माजी आ रही हैं। पहली को दीवाली है, कितनाकितना काम पड़ा है घर का।

वे मुझसे उम्मीद कर रही थीं कुछ और, मैं उनकी अपेक्षा के विपरीत और अधिक खीझ उठा था। लपककर मैंने खाने की टेबल पर फोन खींचकर पटका और खातेपीते निजी सचिव को फोन पर कहा—आज का टिकट कैंसिल, सभी लोग साथ जाएँगे 24 को।

कह गुस्से में खाने की टेबल से उठ आया और वहाँ से सीधे हम स्कूल के समारोह के लिए चले आए। लौटकर खाने का मूड नहीं बना। कल सारी रात रत्ती भर पत्नी से बात नहीं की मैंने।

सुबह जब नहाने गया तो मुझमें अहसास जागा—कुछ गलती मेरी भी थी, पर दीख रहा था पत्नी के नाक पर अभी भी कल का गुस्सा सीना ताने बैठा है। अब मैं क्या करूँ? कितना नीचे झुककर स्वीकार करूँ कि गलती मेरी ही थी, पर समझौते का कोई रास्ता नहीं दिखता।

फिर नहातेनहाते एक रास्ता सूझा। मैंने विभोर को सामने पा उससे कहा—बेटा, जरा माँ को भेजना।

मीरा आई।

पूछा—क्या बात है? आप बुला रहे थे?

मेरा स्वाभिमानी मन साफ इनकार कर गया—नहीं, मैंने तो नहीं बुलाया।

मीरा और भी परेशान—विभोर ने बताया, आप बुला रहे हैं।

कह वे लौट जाना चाहती हैं। उनके जातेजाते मैं हाथ बढ़ा उन्हें रोककर कहता हूँ—मीरा गुस्सा है, देखो मीरा गुस्सा है। फिर रुककर आगे बोले—अरे, हम चल रहे हैं नैनीताल। ऐसा कीजिए कि हम ये बचे हुए सरकारी दो दिन अपने काम के बीच भी शांति से जी सकें।

और वे कह रही थीं—आप इतना बताइए, गलती किसकी थी? वे गुस्सा हो खाना छोड़कर उठ जाने की—आपकी या मेरी?

आप सुनकर हँसेगे, पतिपत्नी के बीच झगड़े का अंत इस बात पर होता है कि 50 प्रतिशत मेरी और 50 प्रतिशत पत्नी की, सुलह हो जाती है। बाबूजी से कितनी ही बातों पर अम्मा को नाराज होते देखा है, पर पाया बाबूजी के औंधे घड़े पर पानी। अम्मा को उलटकर न तो जवाब देते, न बेकार की बातें करते। अम्मा कहती रहतीं। बाबूजी चुप सबकुछ पी जाते। विषपायी शिव की तरह। बाहर की परेशान घर में बाँटतेजीते ही नहीं थे। मैं उन दोनों के बीच मौजूद रहता।

अच्छी तरह याद है। बाबूजी अम्मा का सामना नहीं करते और अंत में समय पा अम्मा का गुस्सा उतरता और कोई बहुत ही खास चीज बनातीं और थाली में सजाकर ले जातीं। बाबूजी अपनी मनपसंद खाने की चीज देख

अम्मा से मुसकराकर कहते—क्यों, आपका गुस्सा शांत हो गया?

बाबूजी खाना खाते और अम्मा रामायण पढ़तीं। उन्हें सुनातीं।

कहीं मेरे मन में सुलह का वह रामयुगी दृश्य चिपककर रह गया है। मेरे मन में वह या वैसी ही लालसा जीतीजागती है कि मीरा क्यों नहीं मेरी कठिनाई समझ पातीं, पर यह सब पत्नी से कह पाना आज के युग में संभव नहीं है न। इसलिए कि मेरे मन में अभी भी वयस्क हो जाने के बावजूद एक किशोर की छटपटाहट जीवित है, जो आकाश चंद्र माँग करती है। कठिनाई आज के समय की यह है कि हम रॉकेट से चाँद पर जा सकते हैं, पर चाँद को धरती पर ला नहीं सकते। मशीन ने हमसे वह कल्पना का सुनहरा जाल छीन लिया है, जो कभी थाली में पानी भरकर चाँद को धरती पर उतार लाता था। हमारा चाँद हमसे छिन गया है। अब वह सब बात पुराने जमाने की दादी की कहानियों जैसी लगती है।

मेरी दादी!

मेरे पिताजी की माँ का नाम था रामदुलारी, जो मुझे सुनील नहीं, मोहन-कृष्ण कहकर बुलातीं। उस समय बाबूजी प्रधानमंत्री थे और वे मुझसे कहतीं, वह दुखियारा गरीब लड़का है, उसे काम दिला दो न। उस फलाँ को बाबूजी के प्रधानमंत्री फंड से पैसे दिलवा दो। बड़ा गरीब है बेचारा।

मैं उनका चहेता मोहनकृष्ण।

वे अपने पूजाघर में बैठी रहतीं। मेरे घर में वह कमरा खाने का था, जहाँ उनकी खाट पड़ी होती। बाबूजी के घर में आने से, उनके घुसते ही, उनके कदमों की आहट से दादी समझ जाती थीं कि बाबूजी आ गए हैं और वे बड़े प्यार से बहुत ही धीमी आवाज में कहतीं—नन्हे, तुम आ गए?

और पाता, बाबूजी जाने कितनी परेशानियों से लदे आए होंगे। दादी की आवाज सुनते ही उनके कदम उस कमरे की तरफ मुड़ जाते, जहाँ दादी होतीं। सारी उलझनों के बावजूद वे पाँच एक मिनट अपनी माँ की खाट पर जा बैठते। मैं देखता, दादी का अपने बेटे के मुँह पर सिर पर, प्यार से हाथ फेरना।

उस सबको याद कर मेरा शरीर रोमांचित हो उठता है। कल्पना कीजिए, भारत के प्रधानमंत्री, हजार तरह की देशी, अंतरदेशी परेशानियों से जूझतेजूझते अपनी माँ के श्रीचरणों में स्नेहिल प्यार में लोटपोट। आज उस चित्र को याद कर मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मेरी आँखों के परदे पर सिनेमा की रील की तरह वह सारा दृश्य गुजरता चला जाता है, जिसे शब्दों बाँट पाना मेरे लिए संभव ही नहीं। ममतामयी दादी और...

आज जब भी मैं लखनऊ से दिल्ली आता हूँ, अपनी माँ के पास और उनके चेहरे पर जो भाव देखता हूँ, जो सहसा मुझे मेरा मन खींच बाबूजी और उनकी माँ के समक्ष ले जा खड़ा कर देता है। जब मेरी माँ मुझे चूमती है, पुच्ची लेती है, तो वह सारा कुछ मैं दो धरातल पर जीता हूँ, एक अभी तत्काल के धरातल पर, जो मेरे साथ हुआ है और एक बीते कल के साथ, जिसका मेरा मन साक्षी है। जिसे मैंने बाबूजी और उनकी माँ के साथ जियाभोगा है, क्योंकि मैंने अपनी दादी को बाबूजी के बिना जीते देखा है। माँ के रहते उनके बेटे को इस दुनिया से उठ जाना उस दु:ख की कल्पना से ही कलेजा फटने लगता है।

बेटे के बिना मेरी दादी रामदुलारी नौ महीने तक जीवित रहीं। और पाया वे सारे समय बाबूजी की फोटो सामने रख उसे उसी स्नेह और प्यार से पुच्ची लेतीसहलाती थीं, जैसे बाबूजी के शरीर को। वह देख मेरा रोमरोम काँप उठता। मेरे पास जाने पर वे कहतीं—मोहनकृष्ण, इस नन्हे ने जन्म से पहले नौ महीने पेट में आ बड़ी तकलीफ दी और नहीं जानती थी कि वह इस दुनिया से कूच कर मुझे नौ महीने फिर सताएगा।

दादी का प्राणांत बाबूजी के दिवंगत होने के ठीक नौ महीने बाद हुआ। पता नहीं कैसे दादी को मालूम था कि नौ

महीने बाद ही उनकी मृत्यु होगी।

दादी के मरने से कुछ दिन पूर्व मई 1966 में मुझे बैंक ऑफ इंडिया में अपरेंटिस की नौकरी मिल गई थी। बाबूजी के मरने के बाद हमारे घर पर तो पहाड़ टूट पड़ा था। मेरी पढ़ाई चल रही थी। बाबूजी के न रहने पर मुझे कुछ और करना चाहिए। किसी भी तरह मैं अम्मा का हाथ बँटाना चाहता था। पढ़ाई पूरी करके नौकरी ही तो करनी थी। इसलिए मन ने जोर दिया, नौकरी कर लो, पढ़ाई पूरी करना है तो वह नौकरी में रहकर भी की जा सकती है। बाबूजी की यह महती इच्छा थी कि मैं पढ़ाई पूरी करूँ। वे होते तो बैंक की नौकरी करने की नौबत ही न आती, जो अब करने जा रहा हूँ।

नौकरी दिल्ली में ही मिली।

एक दिन शायद वह शनिवार का दिन था। उस दिन मैं दोपहर को घर आया। अंदर बरामदे की तरफ अनायास ही चला जा रहा था कि खाने के कमरे से दादी की आवाज सुनी। वे कह रही थीं—नन्हेनन्हे, तुम आ गए?

एक पल को मैं ठिठका। फिर मेरे पैर मुझे दादी तक खींच ले गए। वहाँ पहुँच मैं वैसे ही उनकी पलंग पर बैठ गया जैसे बाबूजी बैठा करते थे।

मुझे पास पा दादी बोलीं—अरे मोहनकृष्ण, तुम हो?

और पाया, दादी उसी तरह पुच्ची ले रही हैं जैसे बाबूजी की लेती थीं। वे उसी प्यार से मुझे थपथपा रही थीं।

मैंने पूछा—दादी, आप नन्हेनन्हे कह रही थीं अभी?

बोलीं—जाने क्यों मुझे ऐसा लगा जैसे नन्हे फिर से लौट आया है।

यह कहकर उन्होंने फिर से मुझे प्यार किया।

महीने के अंत में मुझे मेरे जीवन की पहली कमाई का पैसा मिला। 18 दिन की तनख्वाह जो शायद 270 रुपए थी। उस पैसे से मैंने सबसे पहला काम किया—खादी की दो साड़ियाँ खरीदने का। एक दादी के लिए और एक अम्मा के लिए। साड़ियाँ ले जा उनके चरणों में रख दीं। साड़ी पा दादी का रोमरोम मुझे असीस रहा था।

यदि, उस नौकरी में न जाता, तो शायद उस सारे दादी के स्नेह से वंचित रह जाता, उन अनुभवों से जो नौकरी पेशा लोगों को जीनाभोगना पड़ता है। नौकरीपेशे के गृहस्थों के सुखदु:ख भी अपने अनोखे होते हैं। वह बात कभी और सुनाऊँगा। अभी तो दादी वाली बात को जरा और आगे चलने दीजिए।

चेतगंज, मिरजापुर।

यहाँ मेरे नाना का घर है। उस घर के साथ मेरी कितनीकितनी तरह की यादें जुड़ी हैं, जो कभी-कभी बेपनाह मुझे तंग करती रहती हैं।

नाना को तो मैंने देखा नहीं, पर नानी का चेहरा याद है। आप सोच ही सकते हैं कि आज भी जब आप किसी शहर से दस कोस भी बाहर चले जाएँ तो आपको ग्रामीण भारत के जिन दयनीय हालातों से दोचार होना पड़ता है, उससे मन कचोटता है, फिर भी यह बात तब की है जब भारत को स्वतंत्र हुए बहुत अरसा नहीं हुआ था। चेतगंज के मुहल्ले में आज भी कोई बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं आया है और यही कारण है कि मैं अपने मन को आज की स्थितियों से एकाकार नहीं कर पाता हूँ। उस सारे घपले से अलग हो जाना चाहता हूँ, जो साधारण आदमी को दयनीय स्थिति से उबारने के बजाय, उसे उसी स्थिति में बनाए रखने की तिकड़म में आगे अपनी स्वार्थसिद्धि में तल्लीन है। अभी हाल ही में इसी तरह मन की उधेड़बुन का सिरा खोजतेखोजते मैं अम्मा से बात करते-करते नानी तक पहुँच गया। वे तो अब जीवित नहीं हैं, पर उनकी स्मृतियों के सहारे और अम्मा द्वारा बताई गई बातों से एक चित्र मन में खड़ा होता है और उसमें रंग भरते मैं अम्मा से पूछता हूँ—हम सब अपनी नानी को मावा क्यों कहते थे,

अम्मा?

वे बताती हैं—जाने कब उनके बड़े भाईबहन ने बोलना आरंभ करते हुए बजाय माँ या अम्मा कहने के बरबस मावा कह डाला और तब से सभी उन्हें मावा कहने लगे और कभी किसी ने यह कहनेजाननेसमझने की कोशिश भी नहीं की। छोटे कस्बोंशहरों और मुहल्लों में अकसर ऐसा होता है कि एक बात चल पड़ी, तो सभी के लिए ब्रह्मवाक्य बन जाती है और उस पर कोई प्रश्नचिह्न खड़ा नहीं करता। जैसे एक आदमी या लड़के का मामा धीरेधीरे सारे मुहल्ले का और बढ़ते-बढ़ते जगत् मामा बन जाता है। यही नहीं, एक मुहल्ले का दामाद सारे मुहल्ले वालों का दामाद माना जाने लगता है और पूजनीय हो उठता है।

उस समय छोटा था, पर फिर भी समझ थी और बाबूजी के साथ उनके प्रधानमंत्री बनने के बाद हम लोग चेतगंज आए थे। हमने इस तरह पहले उन्हें यानी बाबूजी को लोगों के साथ मिलतेबात करते और हलकेफुलके ही बतियाते कभी नहीं देखा था, जैसे कि अपने साले चंद्रिका प्रसाद यानी मेरे मामा के साथ पेश आए थे। क्या मजेदार चुटकियाँ वे अपने साले साहब की ले रहे थे। काश, मेरे पास उन दिनों आज की तरह वे सुविधाएँ याददाश्तों को रिकॉर्ड करने की होतीं तो हम सबको रिकॉर्ड करके देखते और आप सबको सुनाते। लगता ही नहीं था कि देश का प्रधानमंत्री किस तरह इतना सरलसहज हो केवल हमारे मामा के साथ ही नहीं बल्कि मुहल्ले के सारे जानेपहचाने लोगों से मिलताबात करता है, जैसे वह इन सारे लोगों का संपूर्ण मुहल्ले और चेतगंज का दामाद हो।

लोग ये भूल गए थे कि मिरजापुर से बाबूजी का दोहरा रिश्ता है। वे उस मुहल्ले के दामाद होने के साथसाथ वहाँ के नाती भी हैं और उनका भी ननिहाल मिरजापुर ही है।

कभी अम्मा से मैंने यह जानना चाहा था कि यह जानकर भी कि बाबूजी ने अपनी जिंदगी, अपना जीवन देश को अर्पण कर रखा है, जब उनकी शादी हुई तो आपको कैसा लगा? कैसे उस जमाने में गुलामी में होने के कारण बहुत लोग अपना जीवन संकट में डालना नहीं चाहते थे और देशप्रेमियों से कटते और बचते थे, फिर भी आपने...?

जानते हैं, अम्मा ने क्या सुनाया था?

बाबूजी को पाने के लिए अम्मा ने व्रत और अनुष्ठान किया। कहने लगीं—देशप्रेम तो घुट्टी में मिला था इसलिए उस तरह कोई डर कभी नहीं सताया, बल्कि वह सब अच्छा लगता था। घर में कभी अभाव नहीं देखा था, सो जानती ही नहीं थी कि अभाव या गरीबी भी कोई चीज है।

तुम्हारी दादी की सगी चाची का हमारे ही मुहल्ले चेतगंज में नैहर था और उनका (दादी) नइहर गणेशगंज मुहल्ले में था। इस कारण जब तुम्हारी दादी गणेशगंज आतीं, तो चेतगंज भी आया करती थीं। उनका स्वभाव बड़ा सरल और मिलनसार था, जिससे सारा मुहल्ला उन्हें जानता और स्नेह करता था। तुम्हें तो याद होगा दादी का नाम। रामदुलारी नाम होने के कारण मुहल्ले में वे दुल्लर बहन के नाम से पुकारी जाती थीं।

एक बार की बात है। अम्माजी के साथ शास्त्रीजी आए हुए थे। उस समय जानते हो हमारी उम्र क्या थी? केवल नौदस साल! चाचीजी के पड़ोस में किसी की गमी हो गई थी। मेरी माँ वहाँ गई थीं, हम बहनों को बाहर निकलने के लिए मना कर गई थीं, पर माँ के जाने के बाद हम भी चोरीचोरी वहाँ जा पहुँचीं और पड़ोस के मकान से वह सब देखने लगीं। एक कौतूहल था—यह जानना, मरने के बाद क्या होता है? किसी की मिट्टी देखने का यह पहला मौका था—इसी से ऐसी उत्सुकता थी। जिसके यहाँ मृत्यु हुई थी, वहाँ बाहर खड़े व्यक्तियों में शास्त्रीजी भी थे। वे चुपचाप एक और गुमसुम से अपने आप में डूबे खड़े थे। हमारे मुँह से अनायास निकल गया—सब लोग तो रो रहे हैं, पर दुल्लर बहन का लड़का नहीं रो रहा है।

फिर बात आईगई हो गई।

अरसे बाद शादी की बात जब चलने लगी, तो न जाने कैसे मन में अपने ही कह गए शब्दों पर हँसी आ जाती। यह क्यों और कैसे हुआ, उसका मर्म आज तक समझ में नहीं आया कि दुल्लर बहन का लड़का नहीं रो रहा—यह कान में अनायास बजते हँसी क्यों आई? कुछ भलाभला क्यों लगा? मेरी माँ को शास्त्रीजी पसंद आ गए थे, अम्मा बताती हैं। वे अपनी बहू से यानी मेरी पत्नी मीरा से बातें करती हैं, मीरा खोदखोदकर पूछती है और मैं बैठा सुन रहा हूँ वह सब। अम्मा कहती जा रही हैं—मेरी माँ ने बड़ी बहन से शास्त्रीजी की शादी की बात चलाईं। पर तुम्हारी दादी शास्त्रीजी की शादी के लिए उस समय तैयार नहीं थीं, इससे माँ को चुप हो जाना पड़ा, और बहन का विवाह दूसरी जगह हो गया।

लगभग दो साल का अरसा बीता। मेरी माँ ने शास्त्रीजी के साथ फिर शादी की बात उठाई। सुना, अब इस तरह का आधार बन गया है और शादी हो जाएगी। इस पर माँ ने बात भैया के आगे रखी। पर भैया ने माँ को आगे बात बढ़ाने से रोक दिया, क्योंकि उनकी निगाह में दोएक और अच्छे लड़के थे। उनसे बात टूट जाने पर ही वे शास्त्रीजी के बारे में सोचने वाले थे।

इसी बीच एक रात मुझे सपना आया। देखा—एक मंदिर में हम पूजा के लिए जा रही हैं। हमारे हाथ में एक माला है। जैसे ही मंदिर के अंदर जाने लगीं, पाया अंदर से शास्त्रीजी बाहर आते दिखे। वे ठिठक गए। हम भी ठिठक गईं। हमने उनके गले में माला डाल दी। जबाव में उन्होंने भी अपने हाथों के फूलों का गुच्छा हमारे हाथों में पकड़ा दिया। इसके बाद हमारी नींद टूट गई। जाने कौन सा पहर था। आगे नींद नहीं आई।

अम्मा इसके बाद एक और घटना जोड़ती हैं—हम दो बहनें थीं तथा एक चचेरी बहन भी साथ रहती थी। वह हमउम्र थी, इस तरह हम तीन लड़कियाँ घर में थीं। मेरी माँ प्रतिदिन गंगा जातीं। नहाधो, कपड़े धोकर लौटतीं। नित्य बारीबारी से एकएक लड़की को साथ ले जातीं। उसे नहलाधुलाकर मंदिर में बैठा देतीं, फिर खुद निबटतीं। इस तरह मेरी बारी गंगा जाने और मंदिर में बैठने की हर तीसरे दिन के बाद आती। इस तरह मंदिर दो दिनों के लिए छूट जाता—यह मुझे बुरा लगता था। एक दिन मैंने बिना सोचेसमझे कि आगे क्या होगा, मंदिर से सालिग्राम की बटिया चोरी कर ली और आँचल में छिपाकर घर ले आई। किसी को पता न चले, उन्हें मैंने तुलसी के पेड़ के नीचे थाले में छिपा दिया।

हर दिन सुबह कलेवा मिलता है। वह मैं तब तक न खाती जब तक नहाधोकर पूजा न कर लेती। चोरी का यह भेद खुल गया एक दिन। घर में होहल्ला मच उठा।

पंडितजी बुलाए गए। चोरी से लाए गए सालिग्राम की कहानी सुनाई गई। पंडितजी बोले—बिटिया, श्रद्‌धा और प्यार से सालिग्राम की बटिया घर लाई है, इसे चोरी नहीं कहा जा सकता। उसे पूजा करने दी जाए।

सो इस तरह मैं हर दिन सालिग्राम की पूजा करने लगी।

सपने के बाद एक दिन मैंने सालिग्राम से कहा, चाहे सपने में सही, मैंने शास्त्रीजी के गले में माला डाल दी है, तब आपके रहते हमारा विवाह कहीं और नहीं होना चाहिए।

जिम्मेदारी उन पर डाल मैं निश्चिंत हो गई। लेकिन भैया थे अपनी जिद पर अड़े। हम और तो कुछ नहीं कर सकते थे, समझ में नहीं आता था कि क्या करें कि भैया के विचारों में परिवर्तन आए। वे लगातार दूसरे लड़कों को ढूँढ़ने में लगे रहे। तब हमें दु:ख के संगसंग गुस्सा भी आने लगा। एक दिन जैसे ही भैया किसी लड़के को देखने के लिए प्रस्थान किए, मैंने झट से बिना आगापीछा सोचे सालिग्राम को पानी में डूबो दिया और कहा, आपने हमें डुबोने

का फैसला कर लिया है तब हम भी तुम्हें डुबाए रहेंगी।

देखा कि भैया वापस आ गए और मेरी माँ से कह रहे हैं कि बात टूट गई है। इतना सुन हम चुपचाप पूजावाले कमरे में पहुँच, कपड़े बदल, पीतांबर पहन, सालिग्रामजी को बाहर निकालती और बारबार प्रणाम करतीं, उन्हें धन्यवाद देतीं।

इस तरह भैया ने कई लड़के देखे और कई जगह बात की, पर किसीनकिसी कारण वह सब एकएक करके खत्म हो गई। जानती हो—वे मीरा को संबोधित कर कहती हैं—इस तरह दसबारह महीने और बीत गए। एकदिन भैया ने माँ को बताया कि किसी नातेदार की बिचवई से बनारस में एक लड़के से बातचीत तय हो गई है। लड़के वाले सुखीसंपन्न हैं। शहर में अपना निजी मकान है और कुछ कारोबार भी होता है। लेनदेन की बात भी तय हो गई है। दोएक दिन में वे लड़का देखने बनारस जा रहे हैं, उसी समय बरिच्छा भी दे जाएँगे।

बरिच्छा का इंतजाम शुरू हो गया। माँ प्रसन्न हुईं। लेकिन हमारी फिर मुसीबत। फिर सालिग्राम को पानी में डुबोओ। फिर उन्हें अपना फैसला सुनाओ। लगा, इस बार सालिग्रामजी को ऊब उठना चाहिए। नाव इस पार या उस पार हो ही जाएगी। सालिग्राम महाराज शायद मेरे ऐसे कठोर फैसले से डर उठे। भैया बनारस गए और बरिच्छा ले वापस आ गए। इस बार उन्हें लड़का ही पसंद नहीं आया। हमारी खुशी आकाश छूने लगी। हम दौड़ी-दौड़ी पूजाघर में गईं और सालिग्रामजी को पानी से निकाल बारबार प्रणाम किया।

इसके बाद तुम्हारी दादी से बातचीत फिर शुरू हुई। एक दिन भैया रामनगर गए और शास्त्री की बात पक्की कर आए। लेनदेन के नाम पर अम्माजी ने यानी सुनील की दादी ने केवल एक रुपया और कपड़े का एक थान कहा। अम्मा ने मीरा को संबोधित करते कहा—नौ मई, 1928 को तिलक चढ़ा। रामनगर शास्त्रीजी को तार देकर बुलाया गया। बनारस आने पर उन्हें विवाह की जानकारी हुई। उन्होंने आते ही अम्माजी से कहा—शादी तय करने से पहले कम-से-कम मुझसे तो पूछ लेना चाहिए था न अम्मा! खैर, जहाँ तुमने तय कर दिया, मैं वहीं करूँगा। लेकिन अभी नहीं, पच्चीस साल का होने के बाद।

शास्त्रीजी माँ की बात को काटते नहीं थे। तिलक के बाद विवाह की तारीख 16 मई ठीक हुई और शास्त्रीजी को मजबूर हो जाना पड़ा। इस तरह हमारी शादी हुई।

पश्चिम में प्रधानमंत्री की पत्नी, जिन्हें 'फस्र्ट लेडी ऑफ द नेशन' की उपाधि दी जाती है और उनके बारे में लोग कितना जाननेसुनने को उत्सुक होते हैं, लेकिन भारत में हम कितनी जल्दी सबकुछ भूल जाते हैं। इसलिए यह आप से नहीं कर रहा कि मेरी माँ है, बल्कि इसलिए कि वे भारत की आत्मा का सही प्रतीक हैं। वह आस्था, वह विश्वास, जो कि हम भारतीयों को यहाँ तक ले आया है, उसकी नींव कितनी गहरी है, उसका चित्र आपको क्या मर्माहत नहीं करता?

अम्मा कहती है—जब तुम पैदा हुए तो तुम्हारे बाबूजी लखनऊ में पुलिस मंत्री थे—यानी गृहमंत्री। मैं तुम्हें लेकर तुम्हारे ननिहाल आई। मेरी माँ तुम्हें पा कितनी खुश थीं। उन्हें बहुत कम दिखता था, फिर भी वे किसीनकिसी तरह अपनी आँखें खूब सिकोड़, खूब चुँघी कर देखने की चेष्टा करतीं। कहतीं—हाय, मेरा लाल कितना गोरा है! कैसा तगड़ा! इसके आते ही बाप पुलिस मंत्री हो गया। देखना एक दिन यह भी तरक्की करेगा। और बाप तो तरक्की करता ही जाएगा।

नानी की कही गई बात झूठ नहीं निकली। यह बात उस दिन मामा ने भी कही थी, जब मैं उत्तर प्रदेश में उपमंत्री बना और एक दिन चेतगंज पहुँचा। तब मेरी नानी का स्वर्गवास हो चुका था और मेरे मामा ने मेरे सिर पर अपना हाथ रख आशीर्वाद दिया था। उन दिनों मिरजापुर में 101 फाटक बनाए गए थे और मैंने प्रण लिया था कि मैं इन

फाटकों के मूल्य को कभी गिरने नहीं दूँगा।

यह सारी बात यूँ ही अपना बड़प्पन जताने और शोहरत हासिल करने के विचार से नहीं लिख रहा हूँ, बल्कि यह मेरे मन की यात्रा है, सच मानिए, इसके जरिए आपके साथ मैं उस स्रोत तक जा पहुँचना चाहता हूँ जहाँ प्रकृति ने मेरे लिए सेवा के बीज रोपे हैं।

फिर एक दिन हमने बाबूजी के स्वतंत्रता आंदोलन के बारे में जानना चाहा और अम्मा से सुना—उन दिनों हम इलाहाबाद में मुट्ठीगंज वाले मकान में रह रहे थे कि एक दिन बड़ी विचित्र समस्या हमारे सामने आ खड़ी हुई। पूना के पास शोलापुर में कांग्रेस से संबंधित कोई कांड हो गया था। क्या हो गया था वह याद नहीं, पर इतना याद है, उस कांड के कारण वहाँ मार्शल लॉ लगा हुआ था, लेकिन फिर भी सारी मनाही के बाद, देश के कोनेकोने से कांग्रेस के वालंटियर वहाँ जा रहे थे और गोलियों के शिकार हो रहे थे। तुम्हारे बाबूजी ने भी वहाँ जाने के लिए अपना नाम भेज दिया था। जब राजर्षि पुरुषोतम दास टंडन, को यह बात पता चली, तब उन्होंने तुम्हारे बाबूजी को तरहतरह से समझाया और वहाँ न जाने की सलाह दी, पर वे अपनी बात पर अडिग रहे। टंडनजी को बड़ी परेशानी हुई। कोई उपाय न देख उन्होंने हमारे पास कहला भेजा कि हम अम्माजी से कह उन्हें न जाने के लिए मजबूर करें।

हमारी आधी जान वहाँ जाने की खबर सुनते ही सूख गई थी। जैसेतैसे ढाढ़स बाँध अम्माजी से बात कही और उन्हें रोकने के लिए कहा। हमारी बात सुन अम्माजी, तुम्हारी दादी थोड़ी देर तो चुप रहीं। फिर धीरे से बोलीं—'न, हम बचवा को वहाँ जाने से मना नहीं कर सकते। उन्होंने जब पैर आगे बढ़ाया है तब पीछे हटाना ठीक नहीं। आगे जैसी भगवान् की इच्छा हो! तुम चाहो तो कहो।'

इस पर मैं तो एकदम भौंचक हो पहले तो अम्मा का मुँह देखती रह गई, फिर याद आया वह दिन जब शादी के बाद अम्मा हमें ले पियरी चढ़ाने के लिए गंगाजी गई थीं और सुनाया था कि यह पियरी चढ़ाने की बात उन्होंने कब सोची थी और फिर उन्होंने वह घटना सुनाई—

2 अक्तूबर 1904 को तुम्हारे बाबूजी का जन्म हुआ था। 14 जनवरी को संक्रांति पड़ी। सवा तीन महीने के बेटे को ले तुम्हारी दादी हमारे ससुर के साथ संगम नहाने आईं। माघ के मेले के कारण भीड़ तो होती ही है, संक्रांति के पर्व की वजह से भीड़ और हो गई। किले के पास किनारे पर नाव तय करने और उस पर बैठने में बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ा। धक्कामुक्की ऐसी कि अपने को सँभालना कठिन। चिकनी मिट्टी की जमीन और उस पर फिसलन और रपटन। इसी धक्कामुक्की में दादीजी के कंधे से चिपके तुम्हारे बाबूजी अचानक गिर पड़े। घबराई हुई अम्माजी इधरउधर देखने लगीं। वह जमाना ही और था, बढ़ेबूढ़ों के आगे मुँह खोलना दुश्वार। जब तक ससुरजी बात समझें कि भीड़ का रेला आया और सबकुछ तितरबितर हो गया। जल्दी ही बचवा की खोजाई होने लगी, लेकिन सबसे बड़ी अचरज की बात यह थी कि चारों तरफ खोज होने के बाद भी बचवा का कहीं पता नहीं चला। तुम्हारी दादी यानी अम्माजी बिलखती किनारे बैठ गईं। बिना बचवा को पाए वे वहाँ से उठने को तैयार नहीं थीं। सभी लोग बचवा को खोजनेढूँढ़ निकालने में लगे रहे। वहाँ बैठे-बैठे अम्मा ने यह मनौती मानी थी कि अगर उनके बचवा उनको मिल गए तो बचवा के ब्याह होने पर दुलहन के साथ वे पियरी चढ़ाने गंगा मैया को आएँगी।

जानते हो, उन्हें बाबू मिले तो कैसे? अम्मा ने आगे बताया—उधर किनारे पर जो नावें खड़ी थीं, उनमें से एक में, तुम्हारे बाबूजी जा गिरे थे। हुआ यह कि एक नाव, जिसमें सवारियाँ पूरी भर चुकी थीं, संगम की तरफ जा रही थी। नाव के इस सिरे पर, जो घाट की तरफ था, दूधवाला अपनी टोकरी लिये बैठा था और उसी टोकरी में शास्त्रीजी जा गिरे थे। दूधवाला और नाव की सवारियाँ गिरे हुए बच्चे को देख भौंचक रह गए। बच्चा किसका है और किधर से आ गिरा, भीड़भाड़ में यह जान पाना कठिन हो गया था। दूधवाले के कोई संतान नहीं थी, इसलिए वह बहुत प्रसन्न था। नाव में बैठे दूधवाले से परिचित व्यक्तियों ने दूधवाले को बधाई दी कि गंगा मैया की कृपा से उसे एक लड़का मिल गया। दूधवाले ने अपनी मिरजई उतार बच्चे को ढाक लिया और कपड़े के फाहे से बच्चे को दूध पिलाने लगा। नाव संगम की तरफ बढ़ी जा रही थी।

इधर गंगा के किनारे खड़े लोग बचवा को खोजने में लगे थे। करीब एक घंटे बाद वापस लौटकर जब नाव संगम के किनारे पर लगी, तब संयोग से ससुरजी को शास्त्रीजी उस टोकरी में पड़े दिखाई पड़ गए। पूछताछ होने लगी। लोगों की भीड़ जमा हो गई। दूधवाला किसी हालत में बच्चा लौटाने के लिए तैयार नहीं था। सच्चाई सिद्ध करने के लिए अम्माजी को बुलाया गया। अम्माजी ने देखते ही झट से बचवा को गोद में भर चिपटा लिया, दूधवाले को डाँटाफटकारा! वह अपनी ही रामकहानी दोहराए जा रहा था। अंत में हारकर कुछ पैसे ले उसने ससुरजी की जान छोड़ी। अम्मा बचवा को लेकर घर आईं। ऐसी थीं तुम्हारी दादी। बाबूजी से एक कदम आगे। उनके आगे कुछ और कहने से कोई लाभ नहीं था। तुम्हारे बाबूजी आए। खाना-वाना हुआ। रात में यह देख कि उनका शोलापुर जाना एकदम निश्चित है, मैंने कहा—'तो हमें भी साथ लेते चलिए!'

उन्होंने प्रश्न किया—'क्यों, तुम वहाँ चलकर क्या करोगी? यहाँ अम्मा को भी कोई देखने वाला चाहिए न!'

हम बोली—'नहीं, हम यहाँ अकेली नहीं रहेंगी। आप जहाँ जाएँगे वहीं हम भी जाएँगी।'

'नहीं, यह नहीं हो सकता।' कहते वे चुप हो गए।

उनकी बात सुनकर हम रोने लगीं। फिर कुछ देर बाद बड़ी रूखी आवाज में बोले—'तुमने अगर गाली दे दी होती तब भी मुझे इतना दुख न होता, जितना तुम्हारी इन बातों से हो रहा है। मुझे तो आए दिन इस तरह के कामों में भाग लेते रहना है। तुम्हें कहाँकहाँ लेकर चलता फिरूँगा। अच्छा, एक शर्त पर इस बार मैं शोलापुर नहीं जाऊँगा और वह शर्त यह है कि फिर कभी भी तुम मेरे इन कामों पर अड़ंगा नहीं डालोगी। इसका वादा करो और अपनी गलती के लिए कान पकड़ो।'

उनका इतना कहना था हमने झट दोनों कान पकड़ लिए। उस दिन से उनके अंतिम दिन तक हम सदा भगवान् की कृपा से अपने वादे पर दृढ़ बनी रहीं। लेकिन उनके साथ ताशकंद न जाने का मलाल मुझे आजीवन रहेगा। मैं अम्माजी की आँखों को देखता रह गया था! उनकी आँखों में कितना संताप, कितना दु:ख भरा था, जिसे भारत की इन 'पहली महिला' ने शास्त्रीजी को क्या से क्या बना दिया।

मेरे जीवन की इस छोटी सी अवधि में जाने कितना कुछ ऐसा घटा है, जिसका वर्णन करता जाऊँ तो एक संपूर्ण ग्रंथ बन जाएगा। लेकिन उस सबके लिए हमआप किसी के पास समय कहाँ है, फिर भी कुछ ऐसी बातें हैं, जिन्हें बताए बिना रहा भी तो नहीं जा सकता। आज ही के समाचार-पत्र में एक समाचार मुख्य पृष्ठ पर छपा है। समाचार न छपता तो आपसे कहता भी नहीं। तीन दिसंबर, 1987। कांग्रेस की इलाहाबाद सीट खाली है। उसके चुनाव के लिए कांग्रेस किसी जानेमाने वयोवृद्ध की तलाश कर रही है। मेरी अम्मा ललिता देवी शास्त्री से कैसे किस तरह उस जगह से चुनाव लड़ने की बात कही गई, वह तो बहुत ही व्यक्तिगत मामला है, फिर भी भारत की प्रथम महिला, स्वर्गीय प्रधानमंत्री की पत्नी होने के नाते वे राजनीति में नहीं आना चाहतीं। उनका निर्देशन कौन करेगा।

जब पति थे तब की बात और थी।

और अम्मा कहती हैं—उस दिन तुम्हारे बाबूजी मेला गए, पर जाते समय बताकर नहीं गए कि वे नमक कानून तोड़ने जा रहे हैं। हमारे पूछने पर कि वे शाम को कब तक लौटेंगे, उन्होंने सिर्फ 'जल्दी' कह दिया था।

हाँ, कुछ दिन पहले अम्मा के आगे जिक्र चला था। गांधीजी ने नमक कानून तोड़ने का सत्याग्रह चलाया। धीरे-धीरे वह जोर पकड़ता गया। लोग पकड़पकड़कर जेल में ठूँसे जाने लगे। जिसका जिक्र करते रात को खाना खाते सबको सुनाते तुम्हारे बाबूजी बोले—'मुझे भी शायद अब दोचार दिनों में जेल जाना पड़े, लेकिन मेरे जेल जाने पर जो कोई रोएगा, तो मैं समझूँगा उसे मुझसे मुहब्बत कम है। सच्चा प्यार उस का होगा, जो बिलकुल नहीं रोएगा।'

जिस दिन वे मेला गए, उस दिन अम्माजी भी घर पर नहीं थीं। वे मेरी दोनों ननदों को साथ ले विंध्याचल चली गई थीं। उन्होंने देवीदर्शन की मनौती मानी थी। मेरी तबीयत खराब थी। इस कारण हमने साँझ होते ही खाना बना लिया और इंतजार करती रहीं कि वे आएँगे तो गरमगरम रोटियाँ बना लेंगी।

शाम उतरने लगी, शास्त्रीजी नहीं आए। पहले तो हम कमरे में जाकर लेट गईं, पर मन को शांति कहाँ! शास्त्रीजी को देर क्यों हो गई? कहाँ रुक गए? मेले में कहीं नमक तो नहीं बनाने लगे? अपना ही पापी मन अपने को सताने लगा। घबराहट बढ़ गई। हम उठकर छत पर आ गई और एकटक सड़क की तरफ निहारते शास्त्रीजी के आने की प्रतीक्षा करने लगी। उस तरह खड़े अभी कुछ समय ही बीता था कि सड़क पर एक लारी आती दिखाई पड़ी। हम उन दिनों मुट्ठीगंज वाले मकान में रह रहे थे। लारी से 'इंकलाब जिंदाबाद' और 'गांधीजी की जय' के नारे उठ रहे थे। हम मुंडेर से झुककर ध्यान से देखने लगीं। लारी के अंदर बहुत से सत्याग्रही बैठे थे। बिलकुल किनारे पर शास्त्रीजी बैठे हुए थे। उन्होंने हमें देख हाथ हिलाया। हम उन्हें एकटक निहारती रह गईं। लारी निकल गई। हमारा कलेजा चिर गया। आँखें डबडबा आईं, लेकिन तुरंत उनकी बात याद आने पर कि 'रोने वालों को मोहब्बत कम होगी' हमने झट से आँखें पोंछ लीं।

हम मुँडेर से नीचे उतर आईं और तरहतरह की बात मन में आने लगीं। शास्त्रीजी को जेल जाते देखने का यह पहला मौका था। झुटपुटा ऐसा था कि मन अपने ऊपर ही शंका करने लगा। संदेह होता कि वह शास्त्रीजी थे या कोई और, इसी के साथ यह बात भी मन में आई कि अगर कोई और होता तो इस तरह हाथ क्यों हिलाता। वे शास्त्रीजी ही थे, फिर लगता, नहीं, वे नहीं थे। इसी तरह ऊहापोह में रात बीतने लगी।

नौ बजे के बाद अम्माजी आईं। हमने तुम्हारे बाबूजी की गिरफ्तारी का हाल बताया। अम्मा को भी विश्वास नहीं हुआ। बोलीं—तुमने बचवा को ठीक से पहचाना था?

हाँ, वे टोपी लगाए लारी के किनारे की तरफ बैठे थे और इधर मकान की ओर देख रहे थे।' हमने शास्त्रीजी के हाथ हिलाने की बात छिपा ली थी। वह कुछ वैसी बात थी।

'टोपी तो और लोग भी लगाते हैं! बचवा नहीं कोई और होगा।'

एक तो तबीयत खराब, ऊपर से घबराहट और अम्मा द्वारा खाने के लिए जिद। कहीं भला ग्रास मुँह में गले से नीचे उतरता और रुलाई आनेआने को होती, उनकी बात 'रोने वाले की मोहब्बत कम होगी' को याद कर रुलाई का

भी दम घुट जाता।

लगभग ग्यारह बजे बाहर के दरवाजे पर किसी ने दस्तक दी। वह दस्तक शास्त्रीजी की नहीं थी। जो सज्जन आए, उन्हें शास्त्रीजी ने भेजा था। वे कोतवाली में बंद थे। वे सचमुच जेल जा चुके थे।

अम्मा की यह बात सुन याद आया, कैसे मैंने लपककर अम्मा के पैर छू लिये और उनका हाथ चूमने लगा। मैं अम्माजी की आँखों से बाबूजी को देख रहा था। कितना कुछ हमारे देश की महिलाओं को भोगना पड़ा है। कितना सारा दु:ख उठाने के बावजूद रोकर, जी हलका करने का भी अधिकार उन्हें नहीं मिला। वह जमाना ही कुछ और था! वह धुन ही कुछ और थी, जब आदमी अपने को कष्ट देकर एक तरह का आत्मसंतोष पाता था।

कैसे बताऊँ आपको कि समयसमय पर जबतब अम्मा ने अपने कठिन दिनों की कितनी ही बातें बताई हैं। एक बात, जब मैं स्कूल जाने लगा था और पढ़ाई से कतराता तो बातोंबातों में उन्होंने सुनाया। हमारी शिक्षा नहीं के बराबर थी। स्कूल में शिक्षा मिल नहीं सकी थी और बाद में जो कुछ घर पर पढ़ पाई थी, वह रामायण पढ़ने तक का स्तर था। वह भी पढ़ना बहुत शुद्ध नहीं, केवल काम चलाऊ। पढ़ने की इच्छा तो थी, पर पढ़ाई शुरू करते ही घर में गमी हो गई और हमारी पढ़ाई छुड़ा दी गई। कहा गया, लड़कियों को पढ़ाना फलता नहीं। इलाहाबाद में ईदगाह रोड वाले मकान में आने पर हमें अपनी इच्छा की पूर्ति का अवसर मिला। हमारे मकान के सामने जो बंगाली परिवार रहता था, उनकी एक सयानी लड़की पढ़ने जाया करती थी। वह हिंदी की छात्रा थी, इस कारण उसे हिंदी अच्छी आती थी। एक दिन हमारे मन में हुआ कि क्यों न उससे हिंदी ही पढ़ ली जाए। वह हमारी सुविधा के अनुसार आ भी सकती थी। रही बात उसे फीस के रूप में कुछ देने की, उसके लिए हम सोच भी चुकी थी।

हमने अम्माजी से कहा कि जो चार रुपए बरतन साफ करनेवाली को दिए जाते हैं, उसे न देकर वही रुपए हम फीस के रूप में इस्तेमाल कर सकती हैं। और रही घर के बरतनों की बात, उसके लिए मैं खुद मेहनत कर लूँगी।

यह सब सोच एक दिन हमने शास्त्रीजी से पूछा। शास्त्रीजी खुश हुए, पर हमारी दिन भर की मेहनत को देखकर हमें एक और नई मुसीबत में नहीं उलझा देना चाहते थे। इससे हमारी तंदुरुस्ती पर असर पड़ सकता था। लेकिन हम पढ़ने लगीं। घर के कामकाज से थोड़ा समय मिलता तो किताब लेकर बैठ जातीं और जो काम वह दे जाती, उसे पूरा करतीं।

बाद में तो महिला कॉलेज में पढ़ने का अवसर मिला और नर्सरी का भी काम सीखा। पर उस समय शास्त्रीजी लगातार टोकते रहते—'अच्छी पढ़ाई करने लगी हो। तुम्हारे लिए तो यह शारीरिक कष्ट है, पर मेरे लिए मानसिक कष्ट बन गया है। भई, कुछ स्वास्थ्य का भी ध्यान रखो।'

'सो तो ठीक है', हम बोलीं, 'पर पढ़ना भी जरूरी है। कमसेकम ठीक से बोलनालिखना तो आ जाएगा, वरना उसमें भी आपकी ही हँसी है।'

इस पर तुम्हारे बाबूजी को चुप रह जाना पड़ा। लेकिन चुप रहने वाले तुम्हारे बाबूजी कभी-कभी बड़ी ही मार्के की गंभीर बात कह दिया करते, जिन्हें जीवन भर मैं कभी भूल नहीं सकती। फैजाबाद जेल से आने पर लगभग एक साल तक शास्त्रीजी बाहर रहे थे। एक दिन शाम की बात है। खाना बन चुका था। हम अम्माजी के संग ऊपर बैठी बातें कर रही थीं कि सहसा बाहर का दरवाजा खटखटाया। शास्त्रीजी का खटखटाना हम पहचानती थीं। हम जल्दी से उतर नीचे गईं। दरवाजा खोला। एक अजनबी आदमी को दरवाजे पर खड़ा देख उलटे पाँव ऊपर भागीं। वह भी हमारे पीछेपीछे अपनी हाथ वाली लाठी से सीढ़ियों को टेकते हुए चढ़ने लगे। हमें घबराया और भयभीत देख अम्माजी कारण पूछने लगीं, तब तक वे ऊपर आ गए।

तुम्हारे बाबूजी स्काउट ड्रेस में टोपी लगाए ऊपर आए थे। इस तरह के कपड़ों में मैंने उनकी कल्पना भी कभी नहीं की थी। वे पहचान में ही नहीं आ रहे थे। उन्हें इस तरह देख अम्मा ने भी डाँटा—'यह क्या आदत है? अकारण ही दुलहन को डरा दिया?'

'नहीं, अम्मा! मैं देख रहा था कि तुमने किसी वीर ललना से मेरी शादी की है।'

हम धीरे से बोलीं—'हम तैयार कब थीं वरना ऐसे डराना कोई खेल नहीं है। मालूम हो तो उसका डटकर सामना कर सकती हैं।'

तुम्हारे बाबूजी जब बात करतेकरते घूम जाते तो निश्चिंत ही कोई गंभीर बात कहा करते थे। वे उसी तरह घूमकर बोले—'मुसीबत कहकर नहीं आया करती है, एकबारगी आती है। इनसान को उसका सामना करने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए, तभी वह उस पर विजय पा सकता है।'

हमने अपनी अम्मा को टूटते कितनीकितनी बार देखा है। अभी कुछ दिन पहले मेरा सबसे छोटा भाई अशोक अनायास ही छोटी सी बीमारी में चल बसा। बाबूजी के बाद एक बहुत बड़ा हादसा अम्माजी की इस उम्र में आ घटा है। उसे झेल पाना, यह अम्माजी का ही जिगरा है। हम सब कितने दु:खी रहे पिछले दिनों। उसका वर्णन करते कलेजा फटने को हो आता है।

इस पर मुझे याद आता है बाबूजी के प्रधानमंत्री होने के बाद कितने तरह से पत्रकार और लेखक अम्मा से भी मिलने आते और तरहतरह के सवाल पूछते। उस समय वयस्क न होने के कारण मैं उनमें से कितनी ही बातों को न समझ पाने के कारण भूल चुका हूँ, पर एक बात आज भी याद है। एक सज्जन ने अम्मा से पूछा था—'प्रधानमंत्री की पत्नी होने के कारण अब आप अपने में कैसा अनुभव करती हैं?'

और अम्माजी ने उत्तर दिया था—'वैसे तो कुछ भी अनुभव नहीं करती, पर जब आप लोग आते हैं और हमसे यह सवाल पूछते है तब हमें लगता है कि कुछ खास है—क्योंकि पहले तो हमारे ऐसे इंटरव्यू लेने लोग नहीं आते थे।'

इन पर सारे प्रेस वाले कैसे हँसे थे। उस हँसी और प्रधानमंत्री के पुत्र होने की बात पर मुझे भी अपनी एक भूल याद हो आई है।

मैंने पहले भी बताया है कि बाबूजी के रहते अभाव नहीं देखा। उनके न रहने के बाद जो कुछ मुझ पर बीता, वह एकदूसरे तरह का अभाव था कि मुझे बैंक की नौकरी करनी पड़ी। लेकिन उससे पूर्व बाबूजी के रहते मैं जब जन्मा था तब वे उत्तर प्रदेश में पुलिस मंत्री थे। उस समय गृहमंत्री को पुलिस मंत्री कहा जाता था। इसलिए मैं हमेशा कल्पना किया करता था कि हमारे पास ये छोटी गाड़ी नहीं, बड़ी आलीशान गाड़ी होनी चाहिए। और बाबूजी प्रधानमंत्री हुए तो वहाँ जो गाड़ी थी वह थी, इंपाला शेवरलेट। उसे देखदेख बड़ा जी करता कि मौका मिले और उसे चलाऊँ। प्रधानमंत्री का लड़का था। कोई मामूली बात नहीं थी! सोचतेविचारते, कल्पना की उड़ान भरते एक दिन मौका मिल गया। धीरेधीरे हिम्मत भी खुल गई थी ऑर्डर देने की। हमने बाबूजी के पर्सनल सेक्रेटरी से कहा—सहाय साहब, जरा ड्राइवर से कहिए, इंपाला लेकर रेजिडेंस की तरफ आ जाएँ।

दो मिनट में गाड़ी आकर दरवाजे पर लग गई। अनिल भैया ने कहा—मैं तो इसे चलाऊँगा नहीं। तुम्हीं चलाओ।'

मैं आगे बढ़ा। ड्राइवर से चाभी माँगी। बोला—तुम बैठो, आराम करो, हम लोग वापस आते हैं अभी।

गाड़ी ले हम चल पड़े। क्या शान की सवारी थी। याद कर बदन में झुरझुरी आने लगती है। जिसके यहाँ खाना था, वहाँ पहुँचा। बातचीत में समय का ध्यान नहीं रहा। देर हो गई।

याद आया बाबूजी आ गए होंगे।

वापस घर आ फाटक से पहले ही गाड़ी रोक दी। उतरकर गेट तक आया। संतरी को हिदायत दी। यह सलूटवलूट नहीं, बस धीरे से गेट खोल दो। वह आवाज करे तो उसे बंद मत करो, खुला छोड़ दो।

बाबूजी का डर। वह खटपट सैलूट मारेगा तो बेतरह की आवाज होगी और फिर गेट की आवाज से बाबूजी को हम लोगों के लौटने का अंदाजा हो जाएगा। वे बेकार में पूछताछ करेंगे। अभी बात ताजी है। सुबह तक बात में पानी पड़ चुका होगा। संतरी से जैसा कहा गया, किया। दबे पैर पीछे किचन के दरवाजे से अंदर घुसा। जाते ही अम्मा मिलीं।

पूछा—बाबूजी आ गए? कुछ पूछा तो नहीं?

बोली—हाँ, आ गए। पूछा था। मैंने कह दिया।

आगे कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ी, यह जाननेसुनते कि बाबूजी ने क्या कहा। फिर हिदायत दी—सुबह किसी को कमरे में मत भेजिएगा। रात देर हो गई। सुबह देर तक सोना होगा।

सुबह साढ़े पाँच पौने छह बजे किसी ने दरवाजा खटखटाया। नींद टूटी। मैंने बड़ी तेज आवाज में कहा—देर रात को आया हूँ, सोना चाहता हूँ, सोने दो।

यह सोचकर कि कोई नौकर चाय लेकर आया होगा जगाने।

लेकिन दरवाजे पर दस्तक फिर पड़ी। झुँझलाता जोर से बिगड़ने के मूड में दरवाजे की तरफ बढ़ा बड़बड़ाता। दरवाजा खोला। पाया, बाबूजी खड़े हैं। हमें कुछ न सूझा। माफी माँगी। बेध्यानी में बात कह गया हूँ। वे बोले—कोई बात नहीं, आओआओ। हम लोग साथसाथ चाय पीते हैं।

हमने कहा—ठीक है!

बस जल्दीजल्दी हाथ मुँह धो चाय के लिए टेबल पर जा पहुँचा। लगा, उन्हें सारी रामकहानी मालूम है। पर उन्होंने कोई तर्क नहीं किया। न कुछ जाहिर होने दिया।

कुछ देर बाद चाय पीतेपीते बोले—अम्मा ने कहा, तुम लोग आ गए हो, पर तुम कहते हो रात बड़ी देर को आए। कहाँ चले गए थे?

जवाब दिया—हाँ, बाबूजी! एक जगह खाने पर चले गए थे।

उन्होंने आगे प्रश्न किया—लेकिन खाने पर गए तो कैसे? जब मैं आया तो फिएट गाड़ी गेट पर खड़ी थी। गए कैसे?

कहना पड़ा—हम इंपाला शेवरलेट लेकर गए थे।

बोले—ओह हो, तो आप लोगों को बड़ी गाड़ी चलाने का शौक है।

बाबूजी खुद इंपाला का प्रयोग न के बराबर करते थे और वह किसी स्टेट गेस्ट के आने पर ही निकलती थी। उनकी बात सुन मैंने अनिल भैया की तरफ देख आँख से इशारा किया। मैं समझ गया था कि यह इशारा इजाजत का

है। अब हम उसका आए दिन प्रयोग कर सकेंगे।

चाय खत्म कर उन्होंने कहा—सुनील, जरा ड्राइवर को बुला दीजिए।

मैं ड्राइवर को बुला लाया। उससे उन्होंने पूछा—तुम लॉग बुक रखते हो न?

उसने 'हाँ' में उत्तर दिया। उन्होंने आगे कहा—इंट्री करते हो? कल कितनी गाड़ी इन लोगों ने चलाई?

वह बोला—चौदह किलोमीटर।

उन्होंने हिदायत दी—उसमें लिख दो, चौदह किलोमीटर प्राइवेट यूज।

तब भी उनकी बात हमारी समझ में नहीं आई। फिर उन्होंने अम्मा को बुलाने के लिए कहा। अम्माजी के आने पर बोले—सहाय साहब से कहना, साठ पैसे प्रति किलोमीटर के हिसाब से पैसे जमा करवा दें।

इतना जो उनका कहना था कि हम और अनिल भैया वहाँ रुक नहीं सके। जो रुलाई छूटी तो वह कमरे में भागकर पहुँचने के बाद काफी देर तक बंद नहीं हुई। दोनों ही जन देर तक फूटफूटकर रोते रहे।

आप से यह बात शान के तहत नहीं कर रहा, पर इसलिए कि ये बातें अब हमारे लिए आदर्श बन गई हैं। सक्रिय राजनीति में आने पर, सरकारी पद पाने के बाद क्या उसका दुरुपयोग करने की हिम्मत मुझमें हो सकती है? आप ही सोचें, मेरे बच्चे कहते हैं कि पापा, आप हमें साइकिल से भेजते हैं। पानी बरसने पर रिक्शे से स्कूल भेजते हैं, पर कितने ही दूसरे लोगों के लड़के सरकारी गाड़ी से आते हैं, वे छोटे हैं, उन्हें कलेजा चीरकर नहीं बता सकता। समझाने की कोशिश करता हूँ, जानता हूँ, मेरा यह समझाना कितना कठिन है, फिर भी समय होने पर कभी-कभी अपनी गाड़ी से छोड़ देता हूँ। अपना सरकारी ओहदा छोड़कर आया हूँ और आपके साथ यह सब फिर जिक्र तनिक ताजा और नया महसूस करना चाहता हूँ। कोशिश करता हूँ, नींव को पुनः सँजोना-सँवारना कि मेरे मन का महल आज के इस तूफानी झंझावात में खड़ा रह सके।

याद आते हैं बचपन के वे हसीन दिन, वे पल, जो मैंने बाबूजी के साथ बिताए। वे अपना निजी व्यक्तिगत काम मुझे सौंप देते थे और मैं कैसा गर्व अनुभव करता था। एक होड़ थी, जो हम भाइयों में लगी रहती थी। किसे कितना काम दिया जाता है और कौन उसे कितनी सफाई से करता है।

एक दिन बोले—सुनील, मेरी अलमारी काफी बेतरतीब हो रही है। तुम उसे ठीक कर दो और कमरा भी ठीक कर देना।

मैंने स्कूल से लौटकर वह सब कर डाला। दूसरे दिन मैं स्कूल जाने के लिए तैयार हो रहा था कि बाबूजी ने मुझे बुलाया। पूछा—तुमने सबकुछ बहुत ठीक कर दिया, मैं बहुत खुश हूँ, पर वे मेरे कुरते कहाँ हैं?

मैं बोला—वे कुरते भला! कोई यहाँ से फ ट रहा था, कोई वहाँ से। वह सब मैंने अम्मा को दे दिए हैं।

उन्होंने पूछा—यह कौन सा महीना चल रहा है?

मैंने जवाब दिया—अक्तूबर का अंतिम सप्ताह।

उन्होंने आगे जोड़ा—अब नवंबर आएगा। जाड़े के दिन होंगे, तब ये सब काम आएँगे। ऊपर से कोट पहन लूँगा न!

मैं देखता रह गया। क्या कह रहे हैं बाबूजी? वे कहते जा रहे थे—ये सब खादी के कपड़े हैं। बड़ी मेहनत से बनाए हैं बीनने वालों ने। इसका एकएक सूत काम आना चाहिए।

यही नहीं मुझे याद है, मैंने बाबूजी के कपड़ों की तरफ ध्यान देना शुरू किया था। क्या पहनते हैं। किस किफायत से रहते हैं। मैंने देखा था, फटा हुआ कुरता एक बार उन्होंने अम्मा को देते हुए कहा था—इनके रूमाल बना दो।

बाबूजी का एक तरीका था, जो अपने आप आकर्षित करता था। वे अगर सीधे से कहते—सुनील, तुम्हें खादी से प्यार करना चाहिए, तो शायद वह बात कभी भी मेरे मन में घर नहीं करती। पर बात कहने के साथसाथ उनके अपने व्यक्तित्व का आकर्षण था, जो अपने में सामने वाले को बाँध लेता था। वह स्वत: उन पर अपना सबकुछ निछावर करने पर उतारू हो जाता था।

अम्मा काफी बताती हैं—हमारी शादी में चढ़ावे के नाम पर सिर्फ पाँच ग्राम सोने के गहने आए थे, लेकिन जब हम विदा होकर रामनगर आईं तो वहाँ मुँह दिखाई में गहने मिले। सभी नातेरिश्तेदार वालों ने कुछनकुछ दिया था।

जिन दिनों हम लोग बहादुरगंज के मकान में आए, उन्हीं दिनों तुम्हारे बाबू के चाचाजी को कोई घाटा लगा था। किसी तरह से कोई बाकी का रुपया देना पड़ा—बात क्या थी, उसकी ठीक से जानकारी लेने की जरूरत हमने नहीं सोची और न ही इसके बारे में कभी कुछ पूछताछ की।

एक दिन तुम्हारे बाबूजी ने दुनिया की मुसीबतों और मनुष्य की मजबूरियों को समझाते हुए जब हमसे गहनों की माँग की तो क्षण भर के लिए हमें कुछ वैसा लगा और गहना देने में तनिक हिचकिचाहट महसूस हुई, पर यह सोच कि उनकी प्रसन्नता में हमारी खुशी है, हमने गहने दे दिए। केवल टीका, नथुनी, बिछिया रख लिये थे। वे हमारे सुहाग वाले गहने थे। उस दिन तो उन्होंने कुछ नहीं कहा, पर दूसरे दिन वे अपनी पीड़ा न रोक सके। कहने लगे—तुम जब मिरजापुर जाओगी और लोग गहनों के संबंध में पूछेंगे तो क्या कहोगी?

हम मुसकराई और कहा—उसके लिए आप चिंता न करें। हमने बहाना सोच लिया है। हम कह देंगी कि गांधीजी के कहने के अनुसार हमने गहने पहनने छोड़ दिए हैं। इस पर कोई भी शंका नहीं करेगा। तुम्हारे बाबूजी तनिक देर चुप रहे, फिर बोले—तुम्हें यहाँ बहुत तकलीफ है, इसे मैं अच्छी तरह समझता हूँ। तुम्हारा विवाह बहुत अच्छे, सुखी परिवार में हो सकता था, लेकिन अब जैसा है वैसा है। तुम्हें आराम देना तो दूर रहा, तुम्हारे बदन के भी सारे गहने उतरवा लिये।

हम बोलीं—पर जो असल गहना है वह तो है। हमें बस वही चाहिए। आप उन गहनों की चिंता न करें। समय आ जाने पर फिर बन जाएँगे। सदा ऐसे ही दिन थोड़े ही रहेंगे। दु:ख-सुख तो सदा ही लगा रहता है।

और दु:खसुख की बात पर याद आता है। बाबूजी के न रहने पर अम्मा ने टीका मिटा दिया था और हाथ की चूडियाँ उतार दी थीं। पर नाक में हीरे की कील आज भी है। लोगों के टोकने पर उन्होंने कहा था—यह उनकी पहनाई हुई है, मेरे शरीर के साथ जाएगी। प्रधानमंत्री होने पर बाबूजी के मद्रास जाने का कार्यक्रम बना। अम्माजी ने बताया—हम भी उनके साथ गईं। मद्रास की तरफ स्त्रियों में नाक में कील पहनने का बड़ा रिवाज है। करीबकरीब सभी पहनती हैं। कील हम भी पहनती हैं और उस समय भी पहने हुए थीं। वहाँ कुछ मिलनेजुलने वाली महिलाओं ने सुझाव रखा कि अगर सोने की जगह हीरे की कील पहनें तो बड़ी फबेगी।

हमें उनका प्रस्ताव भला लगा और हीरे की कील पहनने के लिए मन ललक उठा। रात में शास्त्रीजी को फुरसत मिलने पर हमने अपनी इच्छा व्यक्त की। वे तनिक देर सोचते रहे, फिर बोले—आज तुम्हारे मुँह से यह बात सुन बड़ा आश्चर्य हो रहा है। मैंने तो तुम्हें समुद्र की तरह गंभीर और बड़ा समझा है। खैर, अगर तुम्हारी तबीयत है तो हीरे की कील बनवा दूँगा। वैसे वह सब कुछ अच्छा नहीं होता।

हम चुप रहीं। उन्होंने एक बहुत बड़ी बात कह दी थी। हम काफी देर तक सोचती रहीं। गलती का अंदाज हुआ। पश्चात्ताप हुआ, ऐसी बात क्यों कही? हमारे अंदर हीरे और सोने की भावना क्यों आई। दूसरे दिन हमने उनसे कील के लिए मना कर दिया। बात आई गई हो गई।

मद्रास से लौटकर हम लोग दिल्ली आए। कितने दिन हो गए थे। हमेंनहीं मालूम था कि उन्होंने मद्रास में किसी से कील बनवाकर भेजने के लिए कह दिया है, क्योंकि एक दिन दोपहर को जब वे भोजन के लिए आए तो उन्होंने हमें बुलाया। उस समय हम रसोई में थी। उन्होंने हाथ धोकर आने के लिए कहा। हाथ धोकर आने पर जेब से कील निकाल मेरे हाथों पर रख दी। हम अचरज से देखती रह गईं।

अम्माजी की इस बात पर सभी को चुप रह जाना पड़ा कि वे शास्त्रीजी की पहनाई कील नहीं उतारेंगी। अम्मा जो हैं, मुझे लगता है मेरी दादी का 'एक्सटेंशन' हैं। बात को समझाने के लिए आपके सामने उनके जीवन का एक और उदाहरण रखना होगा। जो कि मेरे जीवन को गढ़नेबनानेसँवारने में बहुत ही उपयोगी हुआ है। आज की इस आपाधापी की जिंदगी में जबकि चारों तरफ मानवमूल्यों का ह्रस हुआ है, लोगों को ये बातें समझ में नहीं आएँगी, पर तनिक गंभीरता से सोचने पर उनका सही औचित्य सामने आ जाएगा।

बड़े-बड़े नेताओं के आने पर दादी मेरी अम्मा को लेकर कुछ सभाओं और जुलूसों में जाया करती थीं और जबतब शास्त्रीजी के साथ भी जाने को कहतीं। उस समय अम्मा को घूँघट का विशेष ध्यान रखना पड़ता था। दादी को किसी का खुले मुँह चलना नापसंद था। उनके साथ शऊर के साथ, बड़े कायदे से चलना पड़ता था। तब की बातों और आज की बातों में कितना फर्क आ गया है। अम्मा ने बताया, तुम्हारे बाबूजी ऐसा कोई भी काम नहीं करते थे, जिसमें अम्मा को, (तुम्हारी दादी) को ठेस लगे।

सत्याग्रह का जमाना था। तुम्हारे बाबूजी बहुत चाहते थे कि हम सत्याग्रह में भाग लें, पर अम्माजी के कारण ऐसा नहीं हो पाता था। उनका कहना था कि हम स्त्रियों को पहले घर का काम देखने के बाद बाहर का काम देखना चाहिए।

ऐसा न होने से घर तो बिगड़ता ही है, बालबच्चों का जीवन भी नष्ट हो जाता है।

बाबूजी अपनी अम्मा से बहस नहीं कर सकते थे। उन्हीं दिनों गांधीजी ने विदेशी कपड़ों के बहिष्कार का आंदोलन चलाया और शहर में जगहजगह पिकेटिंग होने लगी। एक दिन नेहरूजी की पत्नी कमलाजी ने शास्त्रीजी से पूछा—'आप अपनी श्रीमतीजी को क्यों नहीं निकालते हैं?'

'उन्हें तो जब आप निकालेंगी तभी वे निकल पाएँगी। हमसे मुश्किल है।' तुम्हारे बाबूजी ने जान-बूझकर ऐसा जवाब दिया था कमला नेहरूजी को। वे समझते थे कि कमलाजी के आने पर दादी अम्माजी को भेजने से इनकार नहीं कर सकती थीं। और हुआ भी यही।

अम्मा ने कहा—एक दिन कमलाजी आईं। वे बड़ी सरल और सीधी थीं। हमसे बातचीत के बाद अम्माजी से हमें पिकेटिंग पर भेजने के लिए कहा। अम्माजी उनकी बातों को नहीं टाल सकीं। दूसरे दिन हमारी तैयारी हो गई। पिकेटिंग पर जाने से पहले हमने शास्त्रीजी से पूछा कि हमें वहाँ करना क्या होगा? उन्होंने समझाया कि हमें कपड़े की दुकान के आगे खड़े होकर उन भाईबहनों को, जो कपड़ा खरीदना चाहते हों, नम्रतापूर्वक विदेशी वस्त्र न खरीदने का निवेदन करते रहना है। उन्होंने इस बात को समझाया कि हमें जो कुछ भी कहना है, बड़ी नम्रता से कहना है। हमारी बातों से किसी भाईबहन को दु:ख नहीं पहुँचना चाहिए।

गौतमजी की पत्नी हमारे ही मकान में रहती थीं। हम और वो मिलकर एक दुकान में, जो चौक में थी, घंटाघर के पास, जाकर खड़ी हो गईं। जो लोग कपड़ा लेने आते, उन्हें कपड़ा लेने से मना करने लगीं, पर संकोचवश स्त्रियों से ही अपनी बातें कह पाती थीं। हम लोगों की ड्यूटी बारह से दो तक की थी। लगभग बारहसाढ़े बारह बजे बगल के एक दुकानदार और किसी पिकेटिंग करनेवाले से कहासुनी हो गई। जैसेतैसे बात बढ़ गई। भीड़ भी जमा हो गई। इसी भीड़भाड़ में किसी ने दुकान में आग लगा दी। दुकान जलने लगी। फिर पुलिस आ गई। भगदड़ मच उठी। गौतमजी की पत्नी घबराकर बोलीं—'चलिए, हम भी चलते हैं। यहाँ रहकर क्या हम लोग अपनी बेइज्जती कराएँगी?'

घबराहट तो हमें भी हो रही थी। पर समय से पहले जाने पर कहीं वे बुरा न मान जाएँ, हमने उनसे कहा, 'कहीं गौतमजी और शास्त्रीजी बुरा न मान जाएँ। दो बजे तक हम लोगों को यहीं रहना चाहिए।'

वे अधिक रुकने के लिए राजी नहीं हुईं। लाचार मुझे भी उनके साथ वापस जाना पड़ा।

रात में लौटने पर उन लोगों को सारा हाल मालूम हुआ तब गौतमजी अपनी पत्नी को चिढ़ाते हुए बोले, 'तुम बड़ी कायर हो। इसी हिम्मत पर देश आजाद कराओगी? जब बहू रुकने को तैयार थी तब भी तुम डर गईं। बड़ी शर्म की बात है!'

अगले दिन हमारी हिम्मत कुछ खुल गई थी और हम मर्दों से जबतब कपड़ा न लेने का अग्रह करने लगीं। दो बजे के लगभग जब तुम्हारे बाबू और गौतमजी आए तो हम सब लोग घर आ गईं। चौथे दिन फिर उसी समय आना हुआ। जिस दुकान के सामने हम पिकेटिंग कर रही थीं, उसमें एक भाई साहब अपनी पत्नी या बहन के साथ शादी के लिए कपड़ा खरीद रहे थे। हम अंदर जा जब उनसे मना करने लगीं तो दुकानदार चिढ़कर बोला, 'विदेशी कपड़े खरीदने के लिए मना तो करती हैं, पर आप स्वयं विदेशी चूडियाँ पहने हुए हैं, सौ?'

यह सुन हम सिटपिटाईं। फिर भी हमें विश्वास था कि हमारी चूडियाँ विदेशी नहीं होंगी, इसलिए अपनी चूडियों की ओर संकेत क रते हुए कई बार उसे सरकाते पूछा—'ये विदेशी हैं, ये विदेशी हैं?'

वह बोला, 'हाँ, बिलकुल विदेशी हैं। इसी बीच गौतमजी की पत्नी बोल पड़ीं—'तुम जो घड़ी हाथ में बाँधे हुए हो, वह भी तो विदेशी है!'

दुकानदार बोला, 'हाँ है। मैं तो सभी कुछ विदेशी बेचता हूँ। विदेशी से नफरत आपको है, मुझे नहीं।'

तभी मेरे मन में शंका उठी, अगर कहीं चूडियाँ फोड़नी पड़ीं तो घर जाकर अम्माजी को क्या जवाब दूँगी। लेकिन तभी मेरे मुँह से निकला, 'अच्छा, अगर आप कहते हैं कि ये चूडियाँ विदेशी हैं तो हम इनको तोड़ देंगे?' फिर आपको भी तोड़नी पड़ेगी।

दुकानदार न जाने क्यों कह गया, 'हाँ, तोड़ दूँगा, लेकिन पहले आपको अपनी चूडियाँ तोड़नी होंगी।'

दुकानदार की बात अभी पूरी नहीं हुई थी कि शास्त्रीजी और गौतमजी वहाँ आ पहुँचे। हमने उन्हें देखते ही पूछा—ये कह रहे हैं कि ये चूडियाँ विदेशी है!'

तुम्हारे बाबूजी ने कहा—जब ये कह रहे हैं तो हो सकती हैं, कहते उन्होंने इशारा सामने रखे गज की तरफ किया और भाव जताया कि हम चूडियाँ तोड़ दें। हमने चोटी से दो लाल धागे तोड़कर दोनों हाथ में बाँध लिए, फिर सारी चूडियाँ उतारकर गज से तोड़ डालीं।

हमारा तोड़ना था कि गौतमजी की पत्नी ने दुकानदार से घड़ी उतारकर तोड़ने को कहा। दुकानदार आनाकानी करने लगा, वह किसी भी दशा में घड़ी तोड़ने को तैयार नहीं था। इस पर वह महिला, जो सामान खरीद रही थी, दुकानदार पर बिगड़ उठी और बोली—'यह तो आपकी सरासर धूर्तता है। इन लड़कियों की आपने चूडियाँ तुड़वा

दीं और जब अपनी बारी आई तो कतरा रहे हैं। यह तो कोई बात नहीं हुई।'

फिर क्या था तू-तू, मैं-मैं करते बात बढ़ गई और इतनी बढ़ी कि साथ वाले सज्जन, जो कपड़ा खरीद रहे थे, मोल लिये कपड़ों में तो आग लगाई ही, साथ ही दुकान में भी आग लगा दी।

तुम्हारे बाबूजी और गौतम चाचा कब चले गए, हम लोगों को जानकारी नहीं हो सकी।

घर पहुँचने पर जैसे ही अम्माजी की नजर मेरे हाथों पर पड़ी, कुछ नाराज हो, वे चूडियों के टूटने का कारण पूछने लगीं। सही बात बताने पर वे बिगड़तीं। हमने उनके बेटे का अशुभ किया, इसलिए हमने दूसरा बहाना बता दिया। आज उन सारी बातों पर सोच कितना अचरज होता है।

मैं उन क्षणों का गवाह नहीं हूँ पर जो कुछ अम्माजी ने बताया सुनाया है, उसे याद कर उस जमाने का, अंग्रेजी शासन का, जीताजागता चित्र खड़ा किया जा सकता है। वह चित्र हमें अपनी कठिनाइयों का हल खोजने में मदद करता है, इसलिए जब भी मैं तनिक मुसीबत में पड़ता हूँ तो भागकर अम्मा के पास जा पहुँचता हूँ और सलाह करता हूँ—बातचीत में कोईनकोई हल निकल आता है। एक सही सच्चा हल।

उस दिन जब उत्तर प्रदेश सरकार के मंत्री पद से इस्तीफा देने की बात खड़ी हो गई तो वह अम्मा ही थी जिन्होंने बढ़कर धीरज दिया और सही रास्ता बताया—'तुम कांग्रेस में पले, जनमे और बड़े हुए हो। उससे अलग होने की बात का कोई अर्थ नहीं!'

'सच्चा कांग्रेसी और कौन होगा? आत्मसम्मान के आगे पद का कोई स्थान नहीं होता।' अम्मा की ये बातें मेरे लिए पत्थर के वाक्य हैं। मैं चाहे जो सोचता या भोगता हूँ, वह मेरा अपना भाग्य है। जो अम्मा की आज्ञा से ऊपर नहीं। उस महत्त्वपूर्ण निर्णय में जितना हाथ अम्मा का है उससे कम बाबूजी का नहीं है।

वे संस्कार जिसकी नींव उन्होंने डलवाई है, जिसमें मैं ढाला गया हूँ, आज की राजनीति वाले चाहे उसका मूल्य न मानें, फिर भी कहीं तो गहरा सच है, जैसा अपने जमाने में बाबूजी के लिए था। हमारी जड़ें कांग्रेस में गहरी हैं, जिनका मुकाबला कहीं और हो ही नहीं सकता।

मैं आपके साथ इन बातें को केवल इसलिए बाँट कर नहीं जी रहा कि इनमें मेरा रागात्मक संबंध है। मेरा कोरा भावनात्मक लगाव ही नहीं रहा है कि मैं इन सारी अनहोनी घटनाओं को खोदखोदकर दोहरा रहा हूँ, बल्कि मैं उन बातों की तह तक पहुँचना चाहता हूँ, उन दार्शनिक दृष्टिकोण से परिचित होना चाहता हूँ, जिनसे बाबूजी की लघुता में प्रभुता के दर्शन होते हैं। इन घटनाओं के बीच कोईनकोई सूत्र ऐसा होगा, जिनकी वजह से एक व्यक्ति अपनी साधारण सीमाओं के बावजूद प्रधानमंत्री ही नहीं बनता, बल्कि उस पद के योग्य अपने को प्रमाणित करने के सफलता प्राप्त करता है। वे सूत्र और बीज क्या थे? इस ऊहापोह में कुछ और बातें अम्मा की बताई याद हो आईं, जब भारत आजाद हुआ था।

अम्माजी ने सुनाया—शास्त्रीजी जेल से छूटकर आए। बरसों की गुलामी खत्म हो गई थी। गांधीजी की तपस्या पूरी हुई थी। देशवासी प्रसन्न थे। ऐसे प्रसन्न कि जिसका बखान करना भी कठिन है। किसी को आशा नहीं थी कि सैकड़ों वर्ष गुलामी इस तरह फुर्र से खत्म हो जाएगी और वह भी बिना मार-काट के। हाँ, देश के बँटवारे के कारण

जरूर कुछ उलझन हुई थी और इधरसेउधर और उधरसेइधर आनेजाने में लोगों को बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ी थीं, लेकिन इसके सिवा चारा भी कोई नहीं था।

स्वतंत्रता की विधिवत् घोषणा तो सन् 1947 में हुई थी और उसके बाद अपना विधान बना था, लेकिन उससे पहले अंतरिम सरकार गठित हुई थी। उस सरकार का और गुलामी का अंदाज उन लोगों को कतई नहीं लग सकता, जो स्वतंत्रता के बाद जनमे हैं।

तुम्हारे बाबूजी ने जेल से आने के कुछ ही दिनों बाद एक सवेरे दाढ़ी बनाते हुए कहा, 'पंतजी ने लखनऊ बुलाया है।'

मेरे कान खड़े हो गए और हमने पूछा, 'क्यों?'

'अब वहीं रहना होगा!'

हम बोलीं, 'तब तो बड़ी परेशानी होगी। यहीं खर्च मुश्किल से चल पाता है, फिर भला वहाँ कैसे चल पाएगा? आप मना कर दें। यहीं इलाहाबाद में रहिए। वहाँ बड़ी दिक्कत होगी!'

वे बोले, 'लेकिन भाई, वहाँ पैसे मिलेंगे।'

हमने उत्सुकता से उनकी ओर निहारते पूछा, 'कितने?'

उन्होंने कहा, 'इतने कि जिससे काम चल जाएगा।'

'तब ठीक है। चले जाइए!' हम बोलीं।

वे बोले, 'अभी तो आप जाने के लिए मना कर रही थीं और...!'

हम बीच में बोलीं, 'हम अपने लिए नहीं, बच्चों के लिए कह रही हैं। उन लोगों ने आराम नाम की कोई चीज जानी नहीं है न। कष्टहीकष्ट देखा है। अब उन्हें थोड़ा आराम मिलेगा। इसलिए हमने आपसे जाने के लिए कह दिया। हमें अपनी सुख-सुविधा की रत्ती भर चिंता नहीं। आप जहाँ हैं, वहीं हमारे लिए सबकुछ है।'

और यह बात तो सभी को मालूम है कि बाबूजी ने कभी जीवन यापन के लिए हाथ नहीं बढ़ाया, न ही किसी से कर्ज लिया। इसके लिए वे अम्मा और बच्चों को जिम्मेदार मानते रहे हैं। अम्मा कहती हैं कि उन्हें आरंभ से इस बात का अहसास था कि बाबूजी एक दिन बड़े ओहदे पर होंगे, इसलिए सारी कठिनाइयों के बावजूद चाहे उन्होंने तीनतीन दिन अपने बच्चों से फाके करवा लिये, कभी किसी का काम करने और छोटीमोटी नौकरी कर पेट नहीं भरा। वे कहती हैं—'तब आज जो हमें दस आने रोज की मजदूरी देकर ऊन लपेटने या इसी तरह का काम करने की सलाह दे रहे हैं, वे ही ताने देंगे, इसलिए भविष्य की बात सोचकर मैंने उन लोगों के सहयोग को नहीं स्वीकारा। पर आज के जमाने में वह सुख और संतोष नहीं है जो पहले था, जब हम अभाव में रहते थे।'

उत्तर प्रदेश के मंत्री पद से अलग होकर मैं इसी सवाल से जूझ रहा हूँ। भागते हुए रथ के पहिए को विपरीत दिशा में नहीं घुमाया जा सकता। जो चल पड़ा है, उसे बदलकर पुराने मूल्य नहीं लादे जा सकते, पर हम उखड़े हुए, भटके हुए लोगों को उनकी जड़ों से तो जोड़ सकते हैं। क्या गांधीजी का चरित्र बाबूजी में कूटकूटकर नहीं समा गया था।

आज के संदर्भ में उनकी सहजता के अर्थ नहीं लगाए जा सकते, पर वे कुछ गहरे तथ्य हैं, जो मुझे, जो कि मैंने उस जीवन का अभाव नहीं भोगा, फिर भी बाबूजी को देखापरखा है, खींचते हैं। अब जब कि उनके पास चीजों की

कोई कमी नहीं थी और वे प्रधानमंत्री थे, तब भी उनके काम और बात करने के तौर-तरीके में फ र्क नहीं आया। तब भी वे अपने कपड़ों और खादी से इतना लगाव रखते थे, अभी भी उनके फटे हुए, पुरानेगले कुरते कोट के नीचे जाड़ों में काम आते हैं।

कभी भी वे घर को गंदा नहीं देख सकते थे। गंदगी को साफ करने में जब वे खुद लग जाते थे और उस समय कोई हाथ बँटाने आ खड़ा हो या सहयोग देने लगे तो हमेशा की तरह वे उसे बरदाश्त नहीं कर पाते। यह विचार और चरित्र की गहनता ही तो कहा जाएगा। प्रधानमंत्री हैं। उन्होंने घर में प्रवेश किया है। हम बच्चों ने ढेर सारे कागज फाड़कर जगहजगह छितरा रखे हैं। वे खाने पर जाते-जाते खाना भूल उन्हें उठाने-बीनने लगते हैं। अम्मा दूर खड़ी अपने को कोस रहीं, अफसोस कर रही हैं, क्योंकि वे मदद करने से भी मजबूर हैं—यह उन्हें नापसंद है। दूसरे नौकरचाकर देख रहे हैं और कर कुछ नहीं सकते।

उनका यह तरीका मुझ पर ऐसी गहरी छाप डाल गया कि उनके आने पर हम सभी चौकन्ने रहने लगे। नौकर बड़ीसेबड़ी गलती कर डालें, बाबूजी को डाँटते कभी किसी ने नहीं सुना। एक बार तो एक नौकर की थोड़ी सी असावधानी के कारण उनका हवाई जहाज आधे घंटे लेट हो गया। हुआ यह कि जो बक्सा उनके साथ जाना चाहिए था, उसे न भेजकर एक दूसरा बक्सा जहाज में भेज दिया। गलती मालूम होने पर वह बक्सा हवाई जहाज से उतारा गया और सही बक्सा पहुँचाया गया। लेकिन इस सब के बावजूद उन्होंने उससे यह जवाब-तलब भी नहीं किया कि ऐसी गलती कैसे हुई?

दरअसल, उनका काम करने का अपनेपन का तरीका अनोखा था। वे आदमी को उसके परिवेश से जोड़कर कुछ इस तरह व्यवहार करते थे कि वह खुद इस बात का अनुभव करने लगता था कि गलती फिर न हो। वे क्या सोचते हैं, यह जानना बहुत कठिन था, क्योंकि वे कभी भी अनावश्यक मुँह नहीं खोलते थे। किस काम से अधिकाधिक लोगों को सुख पहुँच सकता है—इस बात की मिसाल वे खुद थे। खुद कष्ट उठाकर दूसरों को सुखी देखने में उन्हें जो आनंद मिलता था, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अम्मा बताती हैं कि वे उनके साथ बंबई जा रही थीं और शास्त्रीजी रेलमंत्री थे। गरमी का महीना था। उनका फर्स्ट क्लास वाला डिब्बा लगा था। गाड़ी चलने पर शास्त्रीजी बोले, 'डिब्बे में काफी ठंडक है, वैसे बाहर गरमी है।'

इस पर उनके पी.ए. कैलाश बाबू ने कहा, 'जी, इसमें कूलर लग गया है।'

बाबूजी ने उन्हें पैनी निगाहों से देखा और आश्चर्य व्यक्त करते हुए पूछा, 'कूलर लग गया है?'

'जी हाँ।'

'बिना मुझ बताए? आप लोग कोई काम करने से पहले मुझसे पूछते क्यों नहीं? क्या वे और सारे लोग जो गाड़ी में चल रहे हैं, उन्हें गरमी नहीं लगती होगी? कायदा तो यह है कि मुझे भी थर्ड क्लास में चलना चाहिए, लेकिन उतना तो नहीं हो सकता, पर जितना हो सकता है उतना तो करना चाहिए।'

कैलाश बाबू बेचारे क्या जवाब देते।

बाबूजी ने आगे कहा, 'बड़ा गलत काम हुआ है। आगे गाड़ी जहाँ भी रुके, कूलर पहले निकलवाइए।'

मथुरा स्टेशन पर गाड़ी रुकी। कूलर निकालने के बाद गाड़ी आगे चली। आज भी उस फर्स्टक्लास में उस जगह, जहाँ कूलर लगा था, वहाँ पर लकड़ी जड़ी है।

अम्मा से यह सुन मैं अपने मन से लड़ता हूँ। यह बात सिद्धांत प्रतिपादित करने की नहीं, सिद्धांत को जीने की है, उसे जीवन में उतारने की है। उन्हें साधारण देशवासियों से, उसकी कठिनाइयों से उबारने की सच्ची लगन थी। उनसे वे प्यार करते थे, क्योंकि वे उनके बीच से ही उभरे हुए थे और इसलिए उन्होंने मुझे भी उन आदमियों के,

साधारण आदमियों के बीच जीनेसमझने के लिए भेजा, अवसर दिया।

एक और गहरी बात अम्मा बताती है कि जब उन्हें कभी पैसे की जरूरत पड़ती तो वे अम्मा के पास से पैसे माँगकर कैसे लोगों का कष्टनिवारण करने में सहयोग करते थे। अम्मा का अपना अनुभव है कि जब, जिस दिन वे एक हाथ में टोपी और दूसरे हाथ से सिर खुजाते बाबूजी को अंदर आते देखतीं तो समझ जाती थीं कि उन्हें पैसों की जरूरत पड़ गई है। तत्काल ही वे अपनी लड़कियों—चाहे कुसुम हो या सुमन—जो भी पास में होती, धीरे से कह देतीं—'देखो, अब तुम्हारे बाबूजी रुपए माँगने वाले हैं।'

सर खुजलाजे आते हुए पहले तो बाबूजी उस संबंधित व्यक्ति की कठिनाइयों की चर्चा करते, तकलीफों को बयाँ करते और उसके बाद अम्माजी से रुपयों की माँग करते।

अम्माजी के नानुकर करने पर मुसकराते हुए कहते—'देखिए-देखिए, किसी साड़ी की परत में रखे होंगे। आपके पैसों से किसी की जरूरत पूरी होगी, तकलीफ दूर होगी, यह कितनी बड़ी बात है।' और अंत में अम्मा को रुपए निकालने ही पड़ते।

अम्माबाबूजी का रिश्ता बखाना नहीं जा सकता। दोनों एकदूसरे के पूरक थे। और एक-दूसरे की आवश्यकताओं और माँगों को समझते थे तथा पूरा करने में सहयोग देते थे।

उनके आपसी सहयोग की एक और घटना याद आती है। स्वतंत्रता से पहले की बात है। अम्मा बताती हैं—जब शास्त्रीजी जेल से बाहर हुआ करते तब पंडितजी का सारा पत्र-व्यवहार वही किया करते थे। जरूरत पड़ने पर पंडितजी कितने ही मामलों पर उनसे सलाहमशविरा भी किया करते, पर शास्त्रीजी ने अपने स्वभाव के अनुसार कभी उनसे अपने लाभ की बात बिरले ही की हो। पंडितजी पर शास्त्रीजी को बहुत अधिक विश्वास था। पंडितजी को लोग तरहतरह की चिट्ठियाँ लिखा करते और उनसे रास्ता पूछा करते अपनी समस्याओं का। एक दिन उनके पास एक महाशय की चिट्ठी आई। जो पत्र आया, उसका सारांश था कि उनको अपनी पत्नी पर शक था और उसकी वजह से पारिवारिक जीवन में कलह समा गई थी। वे किसी तरह अपनी शंका का समाधान चाहते थे और उस पर पंडितजी का मशविरा चाहते थे। पंडितजी ने उस चिट्ठी को शास्त्रीजी के सामने रख दिया।

शास्त्रीजी जवाब टालना चाहते थे—'इसके उत्तर की क्या जरूरत है, यह बात नितांत व्यक्तिगत है।'

इस पर पंडितजी ने सलाह दी—'नहीं, जवाब दिए बिना कैसे रहा जा सकता है। तुम इसे घर ले जाकर अपनी पत्नी को दिखाना। वे अवश्य ही जवाब बताएँगी। मुझे तो इस तरह की बातों का कोई अंदाज नहीं, कमला होतीं तो और बात थी।'

पंडितजी की बात टालना या काटना हो नहीं सकता था। तुम्हारे बाबूजी चिट्ठी लेकर घर आए और रात्रिभोज के बाद टहलते-टहलते उन्होंने चिट्ठी की सारी बात बताई। हम सुनती रहीं। हमें गुमसुम देख शास्त्रीजी ने राय माँगी। हमने सहज भाव में कह दिया—'जैसा आप हमारे बारे में सोचते हैं, वही लिख दीजिए। हम समझते हैं, उन महाशय की समस्या सुलझ जाएगी।' तुम्हारे बाबूजी ने वैसा ही किया। इस बात से पतिपत्नी के आपसी संबंधों को सही परिप्रेक्ष्य में आँका जा सकता है। व्यक्ति का भाग्य परिवार से ऊपर उठकर देश के साथ किस तरह जुड़ जाता है, उसमें उसकी पत्नी का योगदान किस तरह होता है, इसमें हम अपने घर का उदाहरण सामने रखे बिना नहीं रह सकते। क्योंकि हमने वह सब घटते देखा है।

बाबूजी रेलमंत्री के बाद वाणिज्यमंत्री हुए और फिर गृहमंत्री। हमने देखा है, मेरी अम्मा की पूजा और देव-

आराधना बढ़ती जाती थी। यह क्रम उनके इलाहाबाद में हुए हार्टअटैक के बाद बढ़ता ही गया है।

9 जून, सन् 1964 को बाबूजी प्रधानमंत्री बने। हमारा घर एक यार्क प्लेस ही रहा। पर उसकी कायापलट हो गई थी। अम्मा से लोग पूछते—उन्हें कैसा लग रहा है और उस सवाल से उनकी आँखों की चमक बढ़ जाती थी—ठीक वैसे ही था जैसे कोई मुँह में लड्डू डालकर उसका स्वाद पूछे। उस समय मेरी समझ आज से कहीं कच्ची थी, पर उलटकर देखने पर सबका नया अर्थ सामने खुलता जा रहा है। उनका भजनपूजन अधिक बढ़ गया था, क्योंकि उनके पति राष्ट्र के भाग्यविधाता बन गए थे। उन्हें देश की शान और सम्मान को बढ़ाना था। जो कुछ पंडितजी कर गए थे, उसे बरकरार रखते हुए आगे चलना था।

पंडितजी के अकस्मात् देहांत से देश पर वज्रपात हुआ था। सभी नरनारी बिलख रहे थे और शास्त्रीजी उनके कितने निकट थे। उनकी व्यथा की गहराई को नापा नहीं जा सकता। उनके आँसू थमते नहीं बनते थे। ऐसा लगता था जैसे उनका सर्वस्व छीन लिया गया हो। अब उन्हें ही देश के दीनदुखियों का कष्ट दूर करके सगे भाई बहनों का सा सुख और संतोष देना था। और यह सब कुछ भगवत्कृपा से संभव हो सकता था—यह मेरी माँ, मेरी अम्मा का विश्वास था। इसलिए पलप्रतिपल वे भगवान् की आराधनापूजा में लगी रहतीं, जिससे पति को, मेरे बाबूजी को ऐसी शक्ति मिले, सामर्थ्य मिले कि वे अपने कर्तव्यों में पूरी तरह से सफल हो सकें। अब उनका सारा समय देश को समर्पित था। इस सब काम की आदत उन्हें बरसों पहले से ही पड़ती चली आ रही थी। वे जब उत्तर प्रदेश के पुलिसमंत्री थे, उससे भी पहले जब वे आजादी से पूर्व कांग्रेस पार्टी का काम देखते थे, तो उन्हे ऑर्गनाइजेशन की चीजें, मतभेदों के निबटाने की आदत बन गई थी। वे समस्याओं की गुत्थी में सिरा खोजने में माहिर हो गए थे और उनके फैसले जरूरत के अनुसार गहराई लिये हुए होते थे। वे विरोधियों को भी अपने खेमे में ले आते। उन्हें अपने विचारों से झुका लेते थे। इसलिए काम उनके लिए बोझ नहीं था। वे अपने तरीके से विभिन्न तरह के विरोधाभासों के बीच समन्वय स्थापित करने में माहिर थे। पार्टी संगठन ने उन्हें यह महारत हासिल करवाई थी। इन सारी बातों के बावजूद वे कभी भी किसी तरह की चर्चा का विषय नहीं बने, क्योंकि उन सारी बातों में उनका स्वार्थ कभी आड़े नहीं आया। वे पक्के गांधीवादी थे और राजनीति के बीच भी वे गांधी के विचारों को जीते, उसका प्रयोग करते रहे।

इस सिलसिले में मेरी अम्मा ने एक उदाहरण दिया—तुम्हारे बाबूजी को आम बहुत पसंद थे। उन दिनों शास्त्रीजी फैजाबाद जेल में थे। हमने दो आम उनके लिए खरीदे। फैजाबाद पहुँचने पर हमने दोनों आम ब्लाउज के अंदर छिपा लिए, क्योंकि फाटक पर जमा करने का अंदेशा था कि खानेपीने की चीज उन तक न पहुँचे। फिर यह भी लालच था कि अपने हाथों खिलाने का सौभाग्य भी मिलेगा। ऐसा अवसर कब और कहाँ मिल पाता है। यही सोच हमने यह विधि अपनाई और आम को छिपाकर अंदर ले गईं।

जैसे ही हमने आम निकालकर शास्त्रीजी के सामने रखे, वे एकदम बिगड़ उठे—इसका तो हमने ध्यान ही नहीं किया था। कभी सोचा ही नहीं था कि इसमें चोरी जैसी भी कोई बात होगी और तुम्हारे बाबूजी थे, जो बिगड़कर कह

रहे थे—'यह क्या, आप इन्हें चोरी से लेकर आई हैं। मैं नहीं छुऊँगा और अभी चलकर फाटक पर कहता हूँ कि यह काम चोरी से किया है। पूछूँगा, आपकी तलाशी क्यों नहीं ली गई? आपने इस तरह की हरकत कैसे की? मैं समझता हूँ कि आप आम क्यों लाई हैं? मैं खा लूँ तो आपको भी मौसम भर खाने को मिलेगा वरना आप खा नहीं पातीं। यही बात है न? बड़ी लज्जा की बात है! अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का भी ईमान गिराती हैं। मैं बिलकुल आम नहीं खाऊँगा।'

उनकी इस तरह की बात सुन हमें रुलाई आ गई। और चारा ही क्या था। इतने दिनों बाद उनसे भेंट-मुलाकात हुई थी। मन में जुगत से कैसे कितनी बातें सोच रखी थीं, लेकिन यहाँ सारी उलट बात हो गई थीं। वे मेरी भावना न जानते हों, ऐसी बात नहीं थी, फिर वे क्यों बिगड़ उठे थे, इस कारण मेरी रुलाई थमती ही नहीं थी। मेरे साथ आई मालवीयजी की पत्नी भी कई चीजें छिपाकर लाई थीं। फिर उन्होंने अम्मा से और सभी लोगों से बातें कीं, हम वैसे ही रह गईं। चलते समय वे आम वापस भेज रहे थे, पर गौतमजी ने यह कहकर कि वे इसे किसी कैदी को दे देंगे, वापस हो रहे आम मुझसे ले लिये।

अम्मा बताती हैं कि फैजाबाद से वापस आने पर उन्हें बाबूजी की चिट्ठी मिली थी, जिसमें उन्होंने अम्माजी से अपने गुस्सा होने पर अफसोस प्रकट किया था और गुस्से में जो कुछ कह गए थे, उसके लिए माफी माँगी थी। फिर कितने ही दिनों बाद उन्होंने अम्माजी को बताया कि मेरे चोरी से लाए दोनों आम, जिन्हें गौतमजी ने ले लिया था, एक ऐसे कैदी को मिले, जो बीस बरसों से जेल काट रहा था और आम का स्वाद ही भूल चुका था।

बात कहाँ से आरंभ हो कहाँ पहुँचती है, यह हम कभी भी नहीं आँक जोड़ सकते, फिर भी हमें हमेशा अपनी ओर से अपना काम करते ही जाना चाहिए। हमेशा अपनी तैयारी रखनी चाहिए, यही निर्माणकारी व्यक्तित्व की असल बात है। अवसर किसी को प्लेट में सँजोकर नहीं दिया जाता। उसे कोशिश करके जुटाना पड़ता है। उसके लिए तैयारी पूरी सजगता से करनी पड़ती है और अम्मा के विवरणों से मैंने यही पाया है।

बाबूजी का उस ऊँचे स्थान पर पहुँचना किसी जोड़तोड़ का या भाग्य का रचा खेल नहीं था, बल्कि एक पूरी तैयारी थी, जिसमें विधान ने भी सहयोग दिया, पर उसके लिए वे बचपन से तैयारी करते ही आ रहे थे वरना कितने ही और लोग थे, जिन्हें अवसर मिला पर वे उसका सही उपयोग न कर पाने के कारण, उन क्षणों को आत्मसात् न कर सके, उसका फायदा लोगों को न दे सके। यह दूसरी बात है कि बाबूजी के काल का, उनके किए गए कामों का, वर्तमान परिस्थितियों में सही आकलन या सर्वेक्षण नहीं हो पाया है, पर वह कभी तो होगा और कोईनकोई उस खोज को उजागर करेगा कि उनकी जड़ें कहाँ थीं, जो उन्हें शक्ति देती रहीं।

शक्ति भवन! लखनऊ।

इस भवन की बारहवीं मंजिल। यही है मेरा कार्यालय। आज मैं उत्तर प्रदेश सरकार में ऊर्जा मंत्री हूँ। इस मंजिल की यह कद्देआदम खिड़कियाँ! इससे दिखता लखनऊ शहर का विस्तार! अभीअभी अपनी गोल घूमनेवाली कुरसी से मैं उठ खड़ा हुआ हूँ। बड़े अफसरान और बिजली बोर्ड के अधिकारी एक अहम मसले पर अंतिम निर्णय के

बाद लौट गए हैं और मैं इस खिड़की पर खड़ा सामने फैले विस्तार को देख रहा हूँ, जो मुझे चुनौती दे रहा है।

मैंने कितनीकितनी बार लोगों को समझाने की कोशिश की है कि इस ऊँचाई पर आकर भी मैं अपनी जड़ों से विलग नहीं हुआ हूँ। इस कमरे की शालीनता, वैभव मुझे मेरे 'स्व' और मेरे अपनेपन से बाँटती है, क्योंकि इस कमरे से मेरा लगाव ही कितना है। मैं अवाम के बीच से उठकर आया हूँ और मेरी असली जगह उन सड़कों, गलियारों, चौपालों में से है, जहाँ के साधारण जनमानस के बीच अनवरत जाता, उनके दु:खसुख को जीताबाँटता हूँ। वे जिनका मन इस बारहवीं मंजिल की ऊँचाई से कहीं अधिक विशाल और बड़ा है। यहाँ खड़े इस सारे खोखलेपन की गरिमा मुझे कचोटती है, लगता है वैसे ही खोखली गरिमा में घिरे सिद्धार्थ ने अचानक सड़क पर आकर एक वृद्ध, एक गरीब, एक मृत्यु से साक्षात्कार पाया था और फलस्वरूप वे सबकुछ त्यागकर चल पड़े थे वैराग्य के रास्ते पर।

वैराग्य का मोह जाने मुझे कितनेकितने पल और किनकिन अवस्था में बींधता है, नोचता और मन में बेचैनी पैदा करता है। जब भी मैंने अपने इस बेचैन मन को खोलने की चेष्टा की, पाया कि लोग मुझे समझ नहीं पाते, केवल मीरा के या अम्मा के। आज की इस आपाधापी में मेरा कहना यह सब हलका और ढपोरशंखी न हो उठे, इसलिए चाहकर भी मैं वह सब किसी के भी साथ बाँटकर नहीं जी पाता, पर यहाँ इस कागज पर वह सब आपके साथ एक नितांत निज के स्तर पर बाँटनेजीने से तो कोई रोक नहीं सकता। आप तो सुनकर मेरी बात पर नहीं हँसेंगे न! इसलिए यहाँ, शक्ति भवन की इस बारहवीं मंजिल की ऊँचाई पर खड़े इस 'मैं' को मेरे घर की, बचपन की वह सारी सच्चाई खींचकर कहीं और ले जाती है। वहाँ, जहाँ भारत की असली आत्मा रहती है। वहाँ, जहाँ के लोग कहीं अधिक सच, निर्मल और स्वस्थ वातावरण में जीते हैं, जो छलकपट की अचोरी संस्कृति से कितनी अलगथलग है। उन सब में जीने की इच्छा का बीज मेरे मन में उस अलस्सुबह घर कर गया था, जब जीवन की भोर आरंभ हुई थी। उस भोर में जब मैंने आँखें खोली तो पाया कि मेरे बाबूजी सरकार में है, मंत्री हैं। सरकारी गाड़ी, सरकारी बँगले, सरकारी अफसरान और जाने कितना कुछ, पर इस सारी चमक-दमक के बावजूद घर के गलियारे के अंदर आते ही हमसब एक विचित्र धरातल पर जी रहे हैं। विचित्र ही कहूँगा, क्योंकि उस पल वह सबकुछ बड़ा अनोखा, अटपटा सा लगता था।

मंत्री का बेटा होने के साथ जिस सुख-ऐश्वर्य में था, उसकी सारी चमकदमक के खोखलेपन से हर पल आगाह भी होता जाता था या बरबस कराया जाता था। इस चेतावनी में जितना हाथ बाबूजी का था, आज जब मैं सोचता हूँ वह सब, तो पाता हूँ उससे कहीं अधिक मेरी अम्मा, दादी और मेरी बहन सुमन दीदी का रहा है, जो सब कहीं बहुत गहरे अर्थों में जीवन से जुड़े हुए हैं। मैं बाबूजी के साधारण परिवार का सीधे साक्षी नहीं, लेकिन जो बातें कहसुनकर मेरी घुट्टी में दी गईं, पिलाई गईं, वे सब बरबस मुझे सिद्धार्थ की कहानी से जोड़ देती हैं और जब भी बारहवीं मंजिल के तनिक से भी एकांत का वह बोधिवृक्ष या साँची के स्तूप, जो मुझे मेरे अतीत से जोड़ते हैं।

मेरे हाथों में यह महँगा फाउंटेन पेन है, जिसकी छुअन मेरी अंगुलियों में सिहरन पैदा करती है। यहाँ स्टैथेस्कोप, (डॉक्टरी आला) होना चाहिए था और मैं बकलम खुद, इस बारहवीं मंजिल पर नहीं, किसी गाँव की चौपाल में।

मेरा एक स्वप्न था। जिसे मैंने किशोर वय तक सँजो रखा था। बड़ी लालसा थी कि मैं कभी डॉक्टर बनूँगा। बचपन से ही लोग मुझे डॉक्टर कहकर संबोधित करते, पुकारते थे और मैं एक छोटा सा होम्योपैथी का बक्सा लेकर निश्चित समय पर घर के लॉन या कमरे में जा विराजता। एक होम्योपैथी की किताब भी जुटा ली थी। इस तरह दवा बाँटने का स्वाँग रचता। लेकिन भाग्य, उसने मेरे साथ कितना बड़ा मजाक किया। स्वतंत्र भारत में जन्म लेकर भी मैं अपने सारे सुनहरे सपनों को बाबूजी के निधन के साथ खो बैठा।

टूटे हुए सपनों के साथ अतीत में जीना कितना कठिन, कितना भयावह, कितना दुखद होता है! अगर मैं अपने कलेजे को चीर उस पल की तसवीर आपको दिखा सकूँ, तो आपको मिलेंगे वहाँ, टूटे, कटीफटी नली वाले स्टैथेस्कोप, बिखरी हुई दवा की शीशीबोतलें और फटेचीथड़े उस डॉक्टरी की किताब के पन्ने, जो अभी भी हवा के थपेड़ों से जीवित मन के आँगन में फड़फड़ा रहे हैं।

सच मानिए, बाबूजी का आकस्मिक निधन और सारे परिवार के साथ हम सब एक पल में भारत के अति साधारण परिवार में वापस लौट आए थे। देश के सिवा बाबूजी का अपना क्या था? उन्होंने कभी अपने लिए कुछ नहीं किया। उनके न रहने के बाद मैंने अपने को उस सब के साथ पाया। निर्धनता और गरीबी से मैं 'थ्योरेटिकल' स्तर पर कल जी रहा था, पर आज वह बात मेरे घर की वास्तविकता बन उठी थी। समय ने मुझे यथार्थ के साथ जीने पर मजबूर कर दिया था। वह सच की मात्र परछाईं नहीं, जीवन का कठोर सच था।

वह सच आज भी चुनौती की लाल झंडी लेकर कहीं मेरे मन में लहराता घूमता है और बरबस मेरे पैरों तले की जमीन खींच ली जाती है। मैं अपने को उस पल एकदम अनाथ, असहाय की स्थिति में पाता हूँ। कितनीकितनी घटनाएँ, कैसेकैसे दृश्य, मुझे भोगनेजीने पड़ते हैं, जैसे मैं चला जा रहा हूँ, सरकारी गाड़ी में और गाड़ी कहीं रुक गई है। और भीड़ जयजयकार के नारे लगा रही है, पर मेरी आँखें उस बालू के एक ढेर पर जा अटक जाती हैं, जहाँ एक दुबलापतला छोटा सा बच्चा बालू पर लेटा अपने पेट और शरीर पर बालू उलीच रहा है। छाया में पड़ी बालू जरूर ठंडी होगी, पर उसका पेट! उसके अंदर गरीबी और भूख की गरमी? मन प्रश्न करता है—वह क्या बालू की शीतलता से पेट की गरमी को मिटाने का विफल प्रयास कर रहा है? मैं गाड़ी में पास बैठे एक साथी मित्र से उस दृश्य का जिक्र करता, अपने मन के उस सिद्धार्थ को बाँटकर जीने का असफल प्रयास करता हूँ, जो जबरन रोताचिल्लाता अपने को छोड़कर चले गए और मैं बाबूजी से डॉक्टर वाले स्टैथेस्कोप की माँग कर रहा हूँ। उन दवा की शीशियों और किताबों के लिए भटककर जी रहा हूँ, जिन्हें मैं किसी भी तरह शक्ति भवन की इस बारहवीं मंजिल पर खड़ा कभी भी नहीं पा सकूँगा—मेरा सारा सुकून मुझसे छिन गया है, मैं वापस लौटकर वह सब पाना चाहता हूँ, जहाँ लोगों को आज भी दो और दो को छह कहने की भाषा नहीं आती।

मैं जिस स्तर पर लोगों से मिलनाजीना चाहता हूँ, कितने कम गिनेचुने लोग मुझसे उस स्तर पर मिलते हैं, बल्कि कहीं इससे विपरीत वे जिस तरह मुझसे पेश आते हैं, मुझे शालीनतावश वह सब जीना पड़ता है, जो मुझे बहुत गहरे काटता है, पर वक्त ऐसा है कि सही बात कहते कहीं अपने को कमजोर पाता हूँ और सहारे के लिए हर पल मीरा खड़ी मिलती है, जो सहयोग दे, सही रास्ते पर ले जाती है— आप ऐसा क्यों सोचते हैं कि हर कोई जो भी आपके पास आता है अपने काम से ही आता है। यदि मित्रता सही है तो उसमें स्वार्थ खोजना गलत है। उस दिन देर रात उस मित्र परिवार के साथ घटा था, जहाँ छोटेछोटे बच्चे भी हम लोगों के इंतजार में बिना खाएपिए उनींदे बैठे थे और जहाँ दस मिनट के लिए प्रण करके गया था वहाँ दो ढाई घंटे बिताने के बाद मन में आया था। इस सारे आपाधापी के तूफान को, इस राजनीति के चक्कर को उतारकर एक तरफ रख दूँ और राजनीति से त्याग लेकर कोशिश करूँ अपने आपको पूर्ण रूप से समाज की सेवा करने के लिए।

कितनीकितनी बार बाबूजी की कही बातें मुझे प्रेरणा देती हैं। लोग मुझे पलायनवादी कहेंगे। कहेंगे मैं भाग खड़ा हुआ हूँ, लेकिन सच मानिए, मेरी बात की गहराई बिरले ही कोई समझ पाएगा। शायद आप यह सब पढ़ते मुझे पूरे परिप्रेक्ष्य में यदि समझने की चेष्टा करें, तो बात दूसरी है, वरना आप भी मुझे 'रणछोड़' कहकर ही मेरी भावनाओं की इतिश्री कर डालने में देर क्यों करेंगे?

मैंने गांधीजी को नहीं देखा है, पर उन्हें जाननेसमझने की चेष्टा की है थोड़ी बहुत, और पाया है बिना गांधी बने,

गांधीजी को समझ पाना कितना कठिन है! आज बाबूजी होते तो पूछता—आज के संदर्भ में गांधीजी का धर्म क्या होता? उससे शायद कोई सही रास्ता निकलता। पर वे नहीं हैं इसलिए राजनीतिक नेतृत्व से अलग हो गाँव में लौटना और जनमानस की सेवा का संकल्प, उनकी खिदमत करने का साहस जुटाने में और कितना समय लगेगा—यह मेरा मन हर बार शक्ति भवन की बारहवीं मंजिल पर तनिक एकांत पाने की चुनौती कर बैठता है।

बाबूजी उस दिन अपने चुनाव क्षेत्र इलाहाबाद जनपद में आए थे और वे किस तरह द्रवित और विह्लल हो उठे थे, क्योंकि वे प्रधानमंत्री थे और उनका चुनाव क्षेत्र इलाहाबाद का वह मांडा गाँव पिछड़ा हुआ था। यहाँ तक कि पानी की सही व्यवस्था तक नहीं थी। लोग पानी खरीदकर पीते थे या यो कहें पानी तक बिकता था। वहाँ, उनका कार्यक्रम रखा गया और उन्होंने अम्मा से कहा—मैं एक दिन राजनीति से संन्यास ले अपने इस क्षेत्र में आ बसूँगा, यहाँ के लोगों की सेवा करूँगा!

बाबूजी दूसरी बार लौट उस क्षेत्र में नहीं जा सके। उनका वह अधूरा सपना अम्मा को उस गाँव, उस क्षेत्र में खींच लाया है और बाबूजी के निधन के नौदस महीने बाद अम्मा वहाँ लौटी हैं और 19 अक्तूबर, 1966 को उन्होंने वहाँ 'लाल बहादुर शास्त्री सेवा निकेतन' के नाम से मांडा में एक केंद्र स्थापित किया, जिसके जीवनस्तर को उठाना, उसमें परिवर्तन लाना, जिससे वे स्वावलंबी हो अपने पैरों पर खड़े हो सकें।

अम्मा के साथ उस केंद्र से जुड़कर मैं अपना दायित्व तो पूरा नहीं कर सका हूँ। बाबूजी के चले जाने के बाद मैं वह सब नहीं कर सकता, जो मेरा मन कहता था, करनी पड़ी बैंक की अफसरी। वहाँ काम करते मन का असंतोष बढ़ता ही गया। मैंने कितनीकितनी तरह से अपने को उस सब में ढालनेखपाने की कोशिश की, पर नौकरी का सीमित दायरा मुझे कुछ और करने, बड़े क्षेत्र में जाने के लिए लगातार प्रेरित करता रहा, उकसाता रहा, क्योंकि जहाँ भी जरा सा अवसर मिला है, मैं अपने को रोक नहीं सका हूँ और बिना सोचेसमझें आँधी में कूद पड़ा हूँ। चाहे वह मेरे मित्रों की परेशानी हो, परिवार की हो, देश की हो। मुझे याद आता है, सक्रिय राजनीति में आने के लिए जबतब मैं इंदिराजी से मिलता था और जहाँ वे मेरी भावनाओं को समझती थीं, वहीं दूसरी ओर एक साधारण राजनीतिज्ञ की तरह मैं अपना प्रयास हर स्तर पर जारी रखे हुए था।

सुबह-सुबह उठता। उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी की अध्यक्ष उस समय मोहसिना किदवईजी थीं, उनके घर पहुँच, लॉन में जा खड़ा हो जाता, मिलने के लिए। कभी मेरा मिलना उनसे हो पाता, कभी नहीं। फिर दूसरे दिन की वही कोशिश। याद आता है कि एक नया बिरवा लगाने और उसे फलित होते देखने के लिए किसी माली को क्याक्या नहीं करना पड़ता। कितनीकितनी परेशानी नहीं झेलनी या उठानी पड़ती। शुरू से 'अ' 'ब' प्रारंभ करना कठिन है। न जाने कितने चक्कर लगाए होंगे मैंने वयस्क राजनीतिज्ञों के घरों के, जो भी उस समय प्रभावशाली थे। आपसे सच क्या छिपाना, बताना चाहूँगा कि कई बार ऐसे भी अवसर आए हैं, जब कितने ही लोगों ने मुझे पहचानने से इनकार कर दिया। कितनों ने सवाल उठाए, पूछा—राजनीति से आप कहाँ जुड़े हुए हैं?

उन्हें मैं कैसे बतातासमझाता कि राजनीति के वातावरण में मैं पैदा हुआ, बड़ा हुआ। जुड़ने का प्रश्न पैदा होने के बाद आता है। पैदा होने से पहले नहीं।

बाबूजी से धीरज रखने की जो शिक्षा मुझे मिली, वह मुझे संबल देती रही। मुझे स्पष्ट मालूम था कि क्या करना या होना है। नौकरी करते, कठिनाइयाँ सहते मैंने साहस नहीं छोड़ा। सन् 1977 से 80 तक इंतजार करने की कोशिश की। समय बीता 80 से, फिर कहें—वही चप्पल घसीटने की प्रक्रिया जारी हो गई और आप कह सकते हैं कि जो

कुछ उस समय भोगा, किया, उसी का फल है कि आज मैं अपने साधारणसेसाधारण कार्यकर्ता के महत्त्व को, उसकी लगन और गरिमा को समझता हूँ तथा उनके प्रति मेरे मन में गहरा सम्मान और श्रद्धा है।

मैंने बाबूजी के कामों को निकट से जानने की, समझने की कोशिश की है। उस समय तो नहीं मालूम था कि मैं डॉक्टर नहीं बनूँगा या बन पाऊँगा, इसलिए पारखी आँखों से वह सब देखतानिहारता रहूँ। नहीं, ऐसा नहीं था। बस एक अनोखी आतुरता। जाननेसमझने की महती और बलवती इच्छा। जब भी अवसर मिलता, मैं बाबूजी के साथ जुड़ जाता। अपनी खोजी बुद्धि के आधार पर घटनाओं के मतलब निकालने की कोशिश करता। कभी-कभी बाबूजी का व्यवहार समझ से परे हो जाता तो झुँझलाहट आती! बाबूजी मेरी तरह क्यों नहीं करतेसोचते। उनसे नाखुश होता, प्रश्न करता। बाबूजी जवाब देते। वे जवाब मेरी आँखें खोल देते। वे एक ऐसे पहलू से दिए गए उत्तर होते, जो मेरी समझ से परे होते और मेरी किशोर बुद्धि मात खा जाती। मेरे सामने एक नया आकाश खुल जाता। एक नया विस्तार! एक नया आयाम!

जब मैं यह सब आपसे बता रहा हूँ, मुझे वह सुबह याद आती है। उस दिन छुट्टी थी। बाबूजी हर दिन घर के लॉन में आए लोगों से मिलते थे। वे प्रधानमंत्री थे। मेरे जी में आया, उनके साथ लोगों को मिलने, देखने, सुनने का। बस साथ हो लिया। वे मुझे मेरे कामों में रोकते, टोकते नहीं थे, बल्कि अवसर मिलने पर उत्साहित ही करते थे। समझाते-बताते कभी-कभी मेरे बिना पूछे ही।

लॉन में उस पल हम दोनों साथ थे। लोग कम थे। हम लोगों को समय मिला। हम दोनों अकारण ही चहलकदमी करते, बातें करते, घूमते रहे। मैंने पाया, यह घूमना अकारण नहीं था। वहाँ एक जर्मन महिला फोटोग्राफर आईं, जिन्होंने शायद समय लिया था या ले रखा था, बाबूजी के स्टिल चित्र उतारने का। वे बाबूजी को बहुत ही नेचुरल परिवेश में देखना, चित्र उतारना चाहती थीं। वे अपने काम में, कैमरे को जबतब क्लिक करने में लगी थीं और हम दोनों अपने में मस्त बातें करने, चहलकदमी करने में। काश, उस समय उनका अतापता ले रखता तो उनके वे चित्र मेरे कितने काम आते। पर उस समय इतनी समझ कहाँ थी!

बाबूजी के साथ घूमता मैं रहरहकर सचेत हो जाता। देखना चाहता था कैमरा कहाँ है? मुझे क्या करना चाहिए? था न किशोर मन! उस उत्कंठा से अपने को बचा नहीं पाया था। यह जानने की कोशिश कि मेरा हर कदम भव्य और शालीन हो। जर्मन महिला कभी पास कभी दूर, कभी आगे, कभी पीछे, हर एंगिल से कैमरा क्लिक करती रहीं। पचासों तरह से ली होंगी फोटो उन्होंने। हम दोनों बापबेटों ने चलतेचलते बातें करते कितनी तरह के पोज बदले होंगे, जो सहज ही हो जाते हैं। कभी हम ठिठककर बातें कर रहे हैं और मैंने पाया बाबूजी की आँखें कहीं अतीत में खो, बँध गई हैं तो कभी हमारे हाथ बगल में झूलनेलहराने के बजाय आपस में पीछे बँध गए हैं। मैंने बाबूजी की नकल नहीं उतारी पर वह सब अनायास ही होता चला गया है। जैसे मैंने किया है, उसी पल बाबूजी के हाथ भी तत्काल उसी जगह चले गए हैं। हम दोनों की एकसी प्रक्रियाएँ। काफी लोग आ गए इस बीच। बाबूजी उनसे बातें करने, उनकी परेशानियाँ सुनने उनके जवाब देने में उलझ गए। जर्मन महिला औपचारिकता समाप्त कर चली गईं। मैं बाबूजी के साथ जुड़ा रहा। इसी बीच एक उद्योगपति एवं गृहमंत्री गुलजारी लाल नंदा मिलने आए—यह सूचना लेकर बाबूजी के निजी सचिव सहाय साहब आए।

सहाय साहब की बात सुन बाबूजी ने घड़ी की ओर देखा और कहा—कुछ समय और बाकी है मेरा जनता से मिलने का। वह पूरा हो जाए, तब तक के लिए आप उन लोगों को दफ्तर की बैठक में बैठा लें।

सहाय साहब लौट गए।

तनिक देर बाद मैंने गाड़ियाँ जाने की आवाज सुनी और देखा दोनों उद्योगपति और गृहमंत्री अपनीअपनी गाड़ी में

चले जा रहे हैं। यह देख मन में कुछ परेशानी हुई। मैं लपका बाबूजी की तरफ और बताया उनसे—बाबूजी, गृहमंत्री चले गए हैं। वे जो उद्योगपति आए थे, वह भी वापस लौट गए हैं आपसे बिना मिले, पता नहीं क्या बात होगी?

बाबूजी ने कहा, मैंने उनको कहलवा दिया है कि मुझे अभी कुछ और समय लगेगा, इसलिए शायद वे चले गए होंगे।

मैंने आग्रह किया और जिद पर पूछा कि आप उनसे मिले क्यों नहीं?

मेरे सवाल पर बाबूजी ने फिर घड़ी की ओर देखा और बोले—केवल पाँच मिनट बच गए हैं। इन पाँच मिनटों तक और मैं इन लोगों से मिल लूँ, फिर तुमसे बात करता हूँ।

मैं निराश हो एक पेड़ तले जा खड़ा हुआ। वहाँ बाबूजी का पाँच मिनट तक इंतजार करता रहा।

पाँच मिनट जब पूरे हो गए तब बाबूजी ने मुझे बुलाया और प्यार से पूछा, कहा—क्या आप नाराज हो गए हैं? आओ, हम बताते हैं कि हमने क्यों कहा कि अभी मुझे थोड़ा समय और लगेगा।

मैं अपलक उनकी ओर देख रहा था। वे मुझे ले लॉन में एक ओर चले और फिर ठिठककर उन्होंने इशारा किया एक पेड़ की तरफ। मैंने देखा, एक बूढ़ा वृद्ध व्यक्ति। उसकी ओर इशारा कर बाबूजी पूछ रहे थे— सुनील, तुम उसे जानते हो?

मैं कैसे जानता वह कौन है। मैं बोला—न, मैं तो नहीं जानता।

उन्होंने बताया—यह पर्वतीय क्षेत्र से आया है। बहुत गरीब परिवार का है। उसकी उम्र काफी हो चुकी है। वह यहाँ आया है। मालूम नहीं कितने दिनों से उसके परिवार में खाना बना होगा या नहीं? इसने जो कुछ पैसा बचाया होगा, उससे बस का टिकट, रेल के टिकट से सुदूर दिल्ली पहुँचा है अपनी फरियाद लेकर, अपने प्रधानमंत्री को सुनाने।

बात सच हो सकती है। मैंने बाबूजी से सहमति प्रकट की। अभी मैं अपनी बात पूरी भी न कर पाया था कि उन्होंने एक और पेड़ के बीच में बैठी महिला की ओर इशारा किया और कहा—इस महिला ने, जो कि दक्षिण भारत के दूरदराज गाँव से आई है, अपने जेवर गिरवी रखे होंगे या कि पैसे उधार लिये होंगे रेलभाड़े के लिए और लाख परेशानियाँ झेल वह यहाँ तक पहुँची है अपनी दु:ख भरी कहानी अपने नेता को सुनाने।

मैंने इसे भी मंजूर किया और सहमति में सिर हिलाया। वे बोले—सुनील, तुम्हीं बताओ, मैं इनकी या आनेवाले इन जैसों की बात नहीं सुनता और इन सबको छोड़ अपने गृहमंत्री से मिलने चला जाता, जो एक बार नहीं दस बार मेरे कार्यालय में आ सकते हैं और वह उद्योगपति, जिनका तुम जिक्र कर रहे हो, एक बार नही बीसियों बार बंबई से उड़कर दिल्ली पहुँच सकते हैं प्रधानमंत्री से मिलने, पर ये लोग, तुम्हीं सोचो, जो भारत के दूरदराज जगहों से एक बार आ वापस लौट जाएँ तो फिर कभी दुबारा आ सकते हैं?

मैं अपने आप में खो गया। मैंने अपने आपको कितना छोटा महसूस किया उस पल बाबूजी के सामने। कद जरूर बहुत छोटा रहा बाबूजी का, पर उनका व्यक्तित्व कितना बड़ा, कैसा विशाल था और हाथी के सामने चींटी। मेरे मन

में गृहमंत्री या उद्योगपति का बड़प्पन तथा गरिमा और उन गरीब ग्रामीण की इकाई का फर्क उनकी जरूरत, उनकी सहायता की महत्ता का अर्थ खुला था और मैंने बाबूजी को वचन दिया था—मैं इस तरह की सच्चाई से परिचित नहीं था। वादा करता हूँ, कभी और दूसरा मौका आपको ऐसा नहीं दूँगा।

बात की गहराई को समझाने का अनोखा तरीका था बाबूजी का। क्या वे जानते थे कि मैं डॉक्टर नहीं बन पाऊँगा। और इसलिए अनकहे ही मुझसे बहुत सी बातें कह जाया करते थे।

मुझे याद आती है पाकिस्तान की लड़ाई के दौरान की वह सुबह! उस दिन पौ फटने से पहले ही बाबूजी ने जगाया मुझे। बोले—जल्दी से तैयार हो जाइए। हम आपको घुमाने ले चल रहे हैं।

बाबूजी के साथ घूमने की लालसा तो मेरी घुट्टी में बसी है। देखा, अभी आसमान खिड़कियों के बाहर काला स्याह है। आलस त्याग, उठते हुए पूछा—सामान वगैरह रख लूँ?

बोले—नहीं, बस तैयार होकर आधे घंटे के अंदर बाहर आइए।

मैं उस आधे घंटे के पहले ही झटपट तैयार हो बाहर हाजिर था।

अँधियारा अभी भी पूरी तरह छाया हुआ था। बाबूजी तैयार होकर आ चुके थे। हम दोनों गाड़ी में जा बैठे। गाड़ी चला रहा था राजाराम—बाबूजी का विश्वसनीय ड्राइवर।

कौतूहल से मन बल्लियों उछल रहा था। हम सैर को जा रहे हैं। सीधी सड़क छोड़कर हमारी गाड़ी पालम की तरफ बढ़ने लगी। मेरा दिल्ली की सड़कों का अंदाज बहुत अच्छा है। मैंने बाबूजी से पूछा—अरे, हम लोग तो हवाई अड्डे की तरफ चल रहे हैं और आपने तो हमसे कहा—सामान वगैरह न रखो! क्या...?

मैं आगे अपनी बात पूरी कर पाता कि उन्होंने अपनी अंगुली होंठों पर रखी और इशारा किया—चुप रहो!

यानी बाद में बताऊँगा।

हवाई अड्डे पर लेफ्टिनेंट जनरल और मेजर जनरल पहले से ही मौजूद थे। उन लोगों ने बाबूजी का स्वागत किया। मैं वह सब देख भौंचक्का।

भारतीय वायुसेना का जहाज, जहाँ तक मुझे याद आता है, अगर मैं गलत नहीं, तो उस विमान का नाम 'पुष्पक' था, उसके निकट हम लोगों को ले जाया गया। अंदर पहुँच, बैठने के बाद बाबूजी ने कहा—हम तुम्हें पाकिस्तान घुमाने ले चल रहे हैं।

मेरा मन बल्लियों पर और अचरज से आसमान छू रहा था। मैंने पीछे बैठे मेजर जनरल और लेफ्टिनेंट जनरल साहबों की ओर घूमकर देखा और पाया, वे लोग भी मुसकरा कर स्वीकार कर रहे हैं।

तनिक ही समय में वायुयान उड़ान भर आकाश में था। मैं अपने मन में घट रहे विचारों को आज भी याद करता हूँ तो रोमांच हो आता है। किस तरह का अनुग्रह मन में बाबूजी के लिए भर आया था। मैं सचमुच आकाश में था, देश के प्रधानमंत्री के करीब, अपने बाबूजी के अति निकट। वैसी निकटता कितनी ही बार मिली है, पर वह कुछ अनोखी ही थी। उस दिन एक राजनेता ने पूछा था, जब मैं, लोगों के यहाँ भोर में हाजिरी बजाते, बैंक की नौकरी करते भागता फिर रहा था कि राजनीति से आप कहाँ जुड़े हैं? तब उस पल जी में आया था उसका गिरेबान पकड़ मैं उसे अपना कलेजा चीरकर दिखाऊँ , जिनके बीज बाबूजी, लालबहादुर शास्त्री ने रोपे थे, बोए थे, पर उसे पूरी तरह पानी देने, सींचने से पूर्व वे चले जा चुके थे। और उन्हीं के निर्देशों, आग्रहों और इशारे के बलबूते पर कितनीकितनी बार खून के घूँट पी मैं अपमानित हो, वापस लौट आया हूँ, पर शुक्र है इस आत्मबोध ने, इस अपमान ने, मुझमें रिएक्शन के बीज पैदा नहीं किए। ईश्वर करे मेरा कोई भी काम प्रतिरोध के तहत न हो। स्वस्थ और सुदृढ़ विचार ही मेरे अपने बनें। पर उस पल जब मैं आकाश में उड़ता पाकिस्तान की ओर जा रहा था, उस

समय मेरे मन में कुछ और ही तरह के भाव थे।

हवाई जहाज नीचे उतरा। यह हलवारा का हवाई बेस था। यहाँ हमें बताया गया कि कैसे हमलावरों ने इस हवाई बेस को ध्वस्त करने की कोशिश की, लेकिन हमारे सैनिकों की चुस्ती-दुरुस्ती के कारण वे सफल नहीं हो सके। हमारे जवानों ने इसकी भरपूर हिफाजत की और इसे पूरी मुस्तैदी से बचाकर रखा। फल यह हुआ, दुश्मन अपने इरादों में नाकामयाब रहा। उसे नजदीक आने में सफलता न मिली, हालाँकि उनकी मार और गोली बारूद के निशान जहाँतहाँ आस-पास की इमारतों पर दिखाई पड़ रहे थे। हमने उन सबको पास से देखा और वारदात का पूरा किस्सा सुना।

वहाँ से हम लोगों को सैनिक सम्मान के साथ ले जाया गया बरकी। यहाँ पुलिस स्टेशन पर तिरंगा लहरा रहा था। इस तिरंगे की शान को बरकरार रखने के लिए हमारे जवानों ने कितनी आहुतियाँ दी हैं। मेरा मन उस तिरंगे को सैल्युट करता झुका। जाने क्यों मेरे मन में आया, मैं इस झंडे के नीचे पल भर रुक उन जवानोंशहीदों की आत्मा की शांति की प्रार्थना करूँ, जिन्होंने देश की शान और रक्षा के लिए अपने जीवन अर्पण किए हैं।

मैं अभी यह सोच ही रहा था कि हम एक तोप के पास खड़े थे। कई और तोपें आसपास थीं। जिनके बारे में हमें बताया गया कि ये तोपें लाहौर के रेडियो स्टेशन और उस शहर की दूसरी प्रभावशाली जगहों पर पूरी तरह से कंट्रोल रखे हुए हैं और आननफानन में आग उगल सकती हैं।

एक नवयुवक के मन की दशा का अंदाज लगाइए। क्या कुछ गुजर रहा था मेरे मन में। 15 साल की उम्र, मुझे तो उस समय यही लग रहा था कि मैं यह देखूँ, यह जानूँ कि पाकिस्तान के लोग कैसे रहते थे यहाँ। उनके घर, हाट, गलियारे और दुकान। पर सबकुछ ध्वस्त और अस्तव्यस्त पड़ा था। चीजें बिखरी और कितने ही मकान बंद या अधखुले। वह बिखराव, वह बरबादी!

हम और आगे चले। देखा, कई पैटन टैंक टूटे पड़े हैं और उन्हें चलाने वाले आपाधापी में उन्हें जबरन छोड़ भाग गए हैं। भारतीय जवानों द्वारा नष्ट, अर्धभग्न हालत में पड़े पैटन टैंक!

हम देख ही रहे थे कि भारतीय सेना के वरिष्ठ अधिकारियों ने बाबूजी से आग्रह किया कि वे एक टैंक पर खड़े हों। उन्हें एक पर खड़ा कर फोटो लिये गए। आज भी कहींकहीं वह फोटो देखने को मिल जाता है और उसे देख मैं क्षण के साथ अपने को जीवित पाता हूँ। कैसे अनोखा था बाबूजी का यह कहना—चलिए, हम आपको घुमाने ले चलते हैं।

मैंने बाबूजी को टैंक पर सवार देखा और जब उनकी फोटो खींची जा रही थी तो मैंने पास खड़े मेजर जनरल से पूछा—अंकल, क्या मैं टैंक पर नहीं जा सकता? मेरे शरीर में अभी भी झुरझुरी आ गई है। उन हाथों की गरमी मैं अपने शरीर के हाथों के नीचे, बगल में महसूस कर रहा हूँ, जहाँ से उठाकर उन्होंने अपने हाथों से मुझे टैंक पर खड़ा कर दिया था।

उन लोगों के मना करने के बाद बाबूजी ने कहा—हम यहाँ से इच्छुकी कैनाल तक चलेंगे।

इच्छुकी कैनाल एक स्ट्रेटेजिक स्थल है। नहर के इस ओर है भारतीय सेना और दूसरी ओर पाकिस्तानी सेना। आमनेसामने तैनात। सैनिक अधिकारियों की दलील थी कि यह उचित नहीं होगा कि देश के प्रधानमंत्री वहाँ तक पहुँचे, क्योंकि खतरा है।

उत्तर में कहे गए बाबूजी के शब्द आज भी मेरे कानों में गूँजते हैं। बाबूजी ने कहा था कि एक नहीं, जाने कितने देश के बहादुर लाल ने अपनी जानें यहाँ कुरबान कर दीं तो क्या मैं सिर्फ अपनी जान की सोचूँ इस समय! मैं उनके हौसले बुलंद करना चाहता हूँ। मैं उनकी प्रशंसा करने यहाँ आया हूँ।

उनके सामने अधिकारियों का सारा तर्क अर्थहीन था। वह नहीं माने और चले। मुझे साफ याद है एक नहीं, दोचारछह घेरे एक के बाद एक बनाए गए और उसके बीच बाबूजी धीरेधीरे इच्छुकी कैनाल की तरफ बढ़े। दोनों बड़े जनरल बाबूजी के अगलबगल इस तरह उन्हें घेरे चल रहे थे जैसे कोई पहाड़ चल रहा हो। देश के प्रधानमंत्री तक कोई, किसी भी तरह की आँच नहीं आ सकती।

अब यह मेरा बचपन कहिए या कुछ और, बाबूजी जवानों को संबोधित कर उनकी बहादुरी और वफादारी, दिलेरी की प्रशंसा कर रहे थे और मैंने जिद पकड़ ली, कि मैं यहाँ बिना कैनाल का पानी पिए जाऊँगा ही नहीं।

मुझे मना किया गया, पर वह मेरा किशोर बालपन का हठ ही तो था। आखिरकार एक मेजर मुझे अपने साथ ले कैनाल तक चले। हम किनारे अभी पहुँचे ही थे कि जो कुछ घटा, वह सारा एक ऐसी अनहोनी थी, जो देखे गए स्वप्न की तरह मेरे मानसपटल पर आज भी अंकित है और शायद जीवन के अंतिम पल तक वैसे ही जीवंत रहेगा। मैं पानी के नजदीक पहुँचा ही था और जल को हाथ लगाने वाला था कि दूसरे किनारे से कितने ही पाकिस्तानी जवान खड़े हो गए। मैं नहीं जानता था कि वे बंकर में हैं और इस फुरती से वह सब होगा और मेरे पानी छूते ही वह मेजर अंकल मुझे गोद में ले वापस हवा से कहीं अधिक फुरती से भागे, क्योंकि दूसरी ओर से गोलियाँ चलने ही वाली थीं और बस वह मेजर अंकल का कमाल था कि वह मुझे ऊपर ले आए। आज भी वह पलायन, मेरे मानसपटल पर भय के साथ चिपककर रह गया है।

बाबूजी का वहाँ का दौरा पूरा हो गया था। दिल्ली लौटने पर हम अस्पताल की तरफ जाने लगे, जहाँ हमारे घायल जवानों की देखभाल, दवादारू की जा रही थी, तो बाबूजी ने मुझसे कहा—सुनील, वैसे तो हमारे जवान अपने देश की रक्षा करते हैं, पर यह लड़ाई दो सरकारों में है—दो लोगों में नहीं।

स्पष्ट था उनका इशारा भारतीय और पाकिस्तानी अवाम की तरफ था। उन्होंने आगे कहा—इसलिए मैंने अपने भारतीय जवानों को कह रखा है कि जहाँ तक संभव हो, जनता को इससे कमसेकम कठिनाई हो।

मेरी तरह आप भी स्वीकार करेंगे कि शास्त्रीजी में मानवतावादी भावनाएँ कूटकूटकर भरी थीं। उनके शब्द उनके मन की अथक गहराई से पूरी सच्चाई और पूरी ईमानदारी से निकल रहे थे। जो वे कह रहे थे, उसमें राजनीतिकता रंचमात्र नहीं थी बल्कि वे जो महसूस कर रहे थे, वही उनकी जुबान पर उस पल था।

बातें करते हुए हम मिलिट्री अस्पताल में आए, जहाँ पड़े भारतीय जवानों ने अपनी सेवाएँ पूर्ण रूप से देश को अर्पित की हैं। यहाँ एक खाट के पास बाबूजी उनका हाथ अपने हाथ में लेते तथा अपना दूसरा हाथ उनके माथे पर रख उन्हें सांत्वना देते बातचीत करते, हालचाल पूछते।

काफी देर घूमने के बाद हम एक जगह पहुँचे जो जालियों से, नेट से ढका था। अंदर एक ऑफिसर उसमें लेटा था। बाबूजी के पहुँचते ही डॉक्टरों ने जाली हटाई और जहाँ तक मुझे याद है, परिचय में बताया गया—मेजर भूपेंदर सिंह हैं।

मेजर भूपेंदर सिंह का सारा शरीर क्षतविक्षत हुआ था। बुरी तरह से शेल उनके शरीर को बींध गए थे। और वे घायल अवस्था में पड़े थे। उनके पास आ बाबूजी ने उसी प्यार से, स्नेह से उनका हाथ एक हाथ में ले, दूसरे से उनका माथा छुआ। माथे पर उनका हाथ आते ही मेजर की आँखों में आँसू भर आए।

मैं इस दृश्य को देख नहीं पा रहा था, क्योंकि बुरी तरह से घायल थे मेजर।

मेजर साहब की आँखों में आँसू देख बाबूजी ने प्रश्न किया और जानना चाहा—आप तो भारतीय सेना के मेजर हैं, उस भारतीय सेना के, जिसका नाम और रुतबा विश्व में है, जिसे उच्चतम सैनिक ताकतों में गिना जाता है। आपकी आँखों में आँसू देख मुझे कष्ट हो रहा है।

इसके उत्तर में जिस तरह का जवाब मेजर ने दिया, वह शायद ठीक उन्हीं शब्दों में मैं उसे आपके लिए न दोहरा पाऊँ, पर उसका आशय कुछ इस तरह था—सर, मैं भारतीय सेना का मेजर हूँ, उस भारतीय सेना का, जिसका विश्व में उच्चतम स्थान है। मेरी आँखों में आँसू इसलिए नहीं हैं कि मौत मेरे नजदीक है या कि मैं कुछ दिनों का मेहमान हूँ। आँसू मेरे इसलिए आ गए हैं कि भारतीय सेना का मेजर होते हुए भी आज मेरे प्रधानमंत्री मेरे सामने खड़े हैं, पर मैं इस योग्य नहीं कि खड़े होकर उन्हें सैल्यूट कर सकूँ।

उस पल बाबूजी की भी आँखें भर आई थीं और मैंने जीवन में पहली बार उनकी आँखों में आँसू देखे। मैं अब और नहीं सह सकता था। उन दोनों को वहीं छोड़कर मैं वहाँ से अलग हट गया।

कहीं और जा अपने को छिपाने की जगह नहीं थी। बस पास में खड़ी गाड़ी दिखी। मैं उसमें जाकर बैठ गया और सोचने लगा, मैं क्या करूँ?

तनबदन में आग सी लगी थी। मैंने पंखा खोल लिया था और घायल मेजर को देख, उनकी और बाबूजी की आँखों में आँसू देख मेरी आँखों तले युद्ध के न जाने कितने दृश्य घूमने लगे थे।

थोड़ी देर बाद बाबूजी मेरे पास आए। आते ही उन्होंने पूछा—तुम चले क्यों आए?

क्या जवाब देता! मेरे लिए बताने को क्या रह गया था। मुझे बहुत तकलीफ हो रही है। बाबूजी ने मेरी मनस्थिति भाँप ली थी।

बाबूजी आगे बढ़े। पंखा बंद करते बोले—अरे, यह पंखा किसने चलाया?

मेरा उत्तर था—मैंने!

वे बोले—तुमने देखा नहीं कि एक भी जवान के पास यहाँ पंखा नहीं है। वे सब इस असह्य गरमी में कैसे कष्ट से लेटे हुए हैं और तुम्हें फिर भी पंखा चलाने की बात मन में आई?

मेरी हिम्मत ही नहीं पड़ी कि बाबूजी की तरफ मुँह उठाकर देखूँ। मैं उनकी आँखों से परिचित हूँ। मैं जानता हूँ, वे किस आशा और अभिलाषा से मेरी ओर देख रहे होंगे।

आज मुझे उनका वह उस तरह से देखना, आँखों से बातें करना किस कदर याद आता है।

आज होली है।

लेखक पिता की गोद में

पिछली दो होली पर अम्मा मेरे साथ रहीं। वैसे रहती वे दिल्ली में हैं, पर त्योहार पर कभीकभार मेरे पास आ जाती हैं। अम्मा के होने से मेरा सूनापन कम हो गया है। बाबूजी की कमी कम खली है। फिर भी वे आज बराबर याद आते रहे हैं।

मैं चुप बैठा हूँ। मेजर भूपेंदर सिंह याद आते हैं। कभी होली पर ऐसी गरमी लखनऊ में नहीं पड़ती। मीरा पंखा चला गई हैं। मैंने उठ खड़े हो पंखा बंद कर दिया है।

तब तक मीरा फिर आई हैं कहते हुए कि इतनी गरमी है, आपने फिर पंखा बंद कर दिया, और उन्होंने फिर पंखा चला दिया।

मेरे मन में भूपेंदर सिंह की याद ताजा हो आई है। मैं बरबस चाहते हुए कि पंखा न चले, मैं उठकर उसे बंद नहीं कर सका। आज के दिन मन का बोझ मैं मीरा के ऊपर नहीं डालना चाहता। चुप अपलक मीरा को जाते देख रहा हूँ। मीरा चली गई हैं। उस दूसरे कमरे में मीरा बच्चों के साथ उलझी हैं और उनकी आवाज रहरहकर मुझ तक आ रही है।

हम लखनऊ में हैं।

लखनऊ में होने के साथ कितनी और बातें मुझे अपने आप में लपेट रही हैं। यहाँ मेरा घर था। उस समय बाबूजी पुलिसमंत्री थे। वह घर उस जगह था, जहाँ आज विधानसभा एनेक्सी की इमारत बनी है और ऊर्जा मंत्री के रूप में उस इमारत में मेरा कार्यालय है।

भागते हुए समय की गाथा भी अजीब है। कैसेकैसे पल उन स्मृतियों के साथ जुड़े हैं। वह जगह जहाँ एनेक्सी में मेरा ऑफिस है, वहाँ बाबूजी के मकान का बरामदा था और उसमें हम खेला करते थे।

शायद तब मैं एक साल के लगभग रहा होऊँगा। मुझे उस बात की याद नहीं, पर अम्मा बताती हैं कि बाबूजी को ऑफिस में देर हो जाया करती थी; एक दिन मैं बाबूजी के इंतजार में जागता रहा और जब वे आए तो उनकी धोती पकड़कर खड़ा हो गया और फिर जाने किस तरह उन्हें ऊपर की मंजिल पर बरामदे में ले गया, वहाँ से अंगुली उठा उस तरफ इशारा किया जहाँ फाटक पर संतरी खड़ा था।

अम्मा कहती हैं—हम लोगों ने इसका मतलब निकाला कि आप देर से आएँगे तो आपको उस पुलिस से पकड़वा दूँगा।

अम्मा आगे कहती हैं कि इस बात का जिक्र बाबूजी ने कहीं अपने सहयोगियों से कर दिया होगा—अनायास ही और अखबार वाले उसे ले उड़े।

एक दिन एक अखबार में इस शीर्षक से समाचार छपा—पुलिसमंत्री को पुलिस से पकड़वाने को बेटे द्वारा धमकी।

जाने कैसे पुलिस सिपाही और सैनिक मेरे मन में गड्डमड्ड हो उठे हैं। और मेरे बच्चों की आवाजें मुझे अपने अतीत में खींच लाई हैं, और फिर मीरा किसी काम से आई हैं और टोक बैठी हैं—क्या गुमसुम से अकेले बैठे हँस रहे हैं। मैं चाहकर भी उन्हें कुछ नहीं कह पाता। वे अपने आपसे कुछ कहती बाहर चली जाती हैं।

मैं चुप उनका जाना देखता बैठा रह जाता हूँ।

एक तरफ से विभोर खेलता-कूदता आया है और उसके हाथ व मुँह में गुझिया भरी है। उसने मेरे मुँह में भी गुझिया ठूँस दी है। खिलंदड़ा लड़का। मैं उसे इनकार नहीं कर सका।

गुझिया मुझे भी पसंद हैं।

पिछले साल और इस साल दोनों ही साल ढेरों गुझियाँ, ढेरों मठरियाँ, नमकीन और पकवान अम्मा ने अपनी अस्वस्थता के बावजूद बनाए हैं।

मैं पिछले दिनों अधिकांशत: दौरे पर रहा हूँ। लौटते ही अम्मा ने बताया कि जैसे ही मैं गुझियाँ बनाने बैठी तो विभोर आ सामने खड़ा हो गया और कहने लगा—आज से हम कुछ और नहीं खाएँगे, बस गुझियाँ ही खाते रहेंगे!

अवसर पा मैंने विभोर को पकड़ा, पूछा। वह बोला—दादी माँ बनाती हैं इतना अच्छा कि कुछ और खाने का मन ही नहीं करता। मुझे तो बस गुझियाँ ही पसंद हैं। वही अच्छी लगती हैं। वही खाएँगे।

मैं उसके चेहरे, उसे बाल स्वभाव, उसके हावभाव में अपनी झलक चमकते देखता शरमा जाता हूँ। इससे कम बंबड़दास मैं नहीं था।

मेरे मुँह में अभी भी गुझिया का स्वाद उठता चला आया है। विभोर मेरे गले से लिपट गया है, वह कहते—पापा, आगे जब भी जितनी होली आए, फिर तो दादी माँ को यहाँ जरूर बुलवा लिया कीजिए।

मैंने कहा—लालची, केवल गुझिया के लिए?

वह किस तरह लजाशरमाकर अपनी बाँहें मेरे गले से उतार भाग खड़ा हुआ है।

उसे दौड़भागता देख मैं भी अपने मन के आँगन में भटकता उस ठौर तक चला आया हूँ जब एक ऐसे ही समय में मैं बाबूजी के साथ था। वैसे बाबूजी के साथ कितनी ही होलियों की याद ताजा है, जब देश के कितने ही नेता और जानेमाने लोग मेरे घर आते थे और उस समय हफ्तों पहले से ही घर में होली के पकवान बनते थे।

कितना अच्छा लगता है रंग गुलाल से लोगों का चेहरा भरना। गीली होली मुझे कम पसंद है। घर आए लोगों को मैंने भी अबीरगुलाल से भर दिया है। जवाब में उन लोगों ने भी मेरा मुँह रँगा है। मिलने वालों में, आए लोगों में हमारे कुछ चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी भी हैं। आकर उन्होंने गुलाल नहीं लगाया, शायद कहीं उन्होंने अपने को कमजोर पाया, इसलिए झुककर केवल आशीर्वाद माँगा। मैंने झुकतेझुकते उन्हें उठाकर उनके मुँह पर गुलाल मलते हुए कहा—आज गले मिला जाता है, भई! और उनके सामने गुलाल की तश्तरी बढ़ा दी। जवाब में उन्होंने भी मेरे मुँह पर गुलाल मला और मैं उनसे गले भी मिला।

इस तरह मेरे साथ गले मिलने की कल्पना शायद उन्होंने नहीं की थी। मुझे अपना सुख हर छोटेबड़े के साथ बाँटने में जो आनंद मिलता है, उसे क्या कागज पर उतारा जा सकता है। उस सुख के बीज, जब मैं 1213 साल का था, तभी मेरे मन के आँगन में लगा दिए गए थे। बाबूजी गृहमंत्री थे। घर पर मोटरों का ताँता। दोपहर होतेहोते सारा लॉन गुलाल से भर उठता था।

मेरी तो बात ही मत पूछिए कि इस बीच बाबूजी ने मुझे बुलाकर कहा—ऐ बंबड़दास, उधर वहाँ गेट के पास देखना कौन खड़ा है। जाओ, उसे बुला लाओ।

भागा हुआ मैं गेट तक गया। पाया, अरे यह तो अपना कंछी का पिता है! उसे बुला मैं बाबूजी के पास ले आया। उसकी मुट्ठियाँ बंद थीं और उसने दोनों हाथ पीछे छिपा रखे थे।

बाबूजी के पास आ उसने हाथ उनके पैरों तक ले जाकर मुट्ठियाँ खोल देनी चाहीं, जिनमें गुलाल भरा था।

बाबूजी को समझते देर न लगी—वह गुलाल अर्पित करना चाहता है। उन्होंने उसके झुकते-झुकते ही उसे उठा गले से लगा लिया यह कहते—आज का दिन गले मिलने का है और भई, गुलाल मुँह पर लगाया जाता है, पैर पर नहीं।

हाथ बढ़ा बाबूजी ने तश्तरी से गुलाल उठाया और उसके चेहरे पर मल डाला। जवाब में उसने भी बाबूजी के चेहरे पर गुलाल लगाया।

बाद में उसके चले जाने पर बाबूजी ने कहा था—अगर मेरा बस चले तो मैं सारे साल होली मनाता रहूँ।

मैं चकित उनकी ओर देखता रह गया था। और बाबूजी ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए बताया कि होली

बराबरी का त्योहार है। समाज में यह जबरन जो ऊँचनीच बो दी गई है, होली इसे समाप्त करती है। आज के दिन कोई भी छोटाबड़ा नहीं रह जाता। काश! ऐसा एक दिन न होकर हमारे जीवन में हमेशा के लिए हो जाए, तो कितना अच्छा लगे!

अपने देश में इस बात की कल्पना की जा सकती है, क्या मेरी कोशिशों से यह संभव हो सकता है? यह सवाल कितने अरसे से तंग करता रहा है। हम बहुत बड़ी अच्छाई का काम एकबारगी नहीं कर सकते, लेकिन प्रतिदिन जरा-जरा अच्छा काम करते रहने से वह एकत्र होकर बड़े अच्छे काम में परिवर्तित हो जाता है।

मैं कुछ अच्छा कर सकूँ, इस बात की प्रतिज्ञा लेकर मैं बाबूजी की समाधि से चला था अपना नामांकन पत्र दाखिल करने गोरखपुर में।

यह सारा कुछ इतनी शीघ्रता में हुआ कि मैं खुलकर मीरा से इसके बारे में बात भी नहीं कर सका था। मैंने मान लिया था कि जो कुछ मैं कर रहा हूँ, उसमें हम दोनों की भलाई है और मीरा की पूर्ण स्वीकृति। अब जबकि हम दिल्ली से चल पड़े थे और मेरे सामने नया जीवन, उसकी चुनौतियाँ प्रश्नचिह्न बनकर आ खड़ी हुई थीं और मैंने गाड़ी चलाते-चलाते मीरा से पूछा—तुम्हें अच्छा लग रहा है?

गाड़ी की खिड़कियाँ खुली थीं। मीरा को नींद आ रही थी।

अचानक मेरे किए गए इस सवाल से मुझे लगा, वह एक बार चौकन्नी हो उठी है। उसकी प्रतिक्रिया ने मुझे सोचने पर मजबूर कर दिया—क्या मैंने कुछ गलत कह दिया था कि मेरे प्रश्न का अवसर गलत था!

मीरा के कुछ न बोलते, मैंने फिर से बात दोहराई—सचसच बताओ, मीरा! तुम्हें कैसा लग रहा है? तुम्हारा पति अब राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए चुनाव लड़ने जा रहा है। एक नई तरह के जीवन की ओर बढ़ रहा है।

मैं जानता था, मीरा अगर और देर तक चुप रही तो मैं अपने को रोक नहीं सकूँगा, बस बोलता ही जाऊँगा और मेरी बात लंबी होती चली जाएगी। बोलने की इस तरह की आदत जाने कब से मेरे कंठ में बस गई है। मैंने स्टेयरिंग सँभालते हुए मीरा की ओर देखा और उसे चुप पा आगे कुछ कहने ही वाला था कि उसने अपना हाथ बढ़ा अपनी तर्जनी मेरे होंठों पर रख दी और केवल इतना ही कहा—आप जिस रास्ते पर चलेंगे, मैं आपके साथ ही चलूँगी, लेकिन इतना मैं जरूर कहूँगी कि वैसे मैंने कभी भी बाबूजी को नहीं देखा। वे हमारी शादी से बहुत पहले हमसे विदा हो चुके थे। आप से और घर के सभी लोगों से जो कुछ मैंने उनके बारे में सुना है, उस सब को ध्यान में रखते हुए आप इस बात की कोशिश जरूर करेंगे हमेशा कि बाबूजी के नाम पर कोई अंगुली न उठाए।

मैं मीरा की तरफ देखता रह गया। समझ में नहीं आया कि उसे किस तरह समझाऊँ कि जिस रफ्तार से समय चलबदल रहा है, उन बदली हुई परिस्थितियों में और बाबूजी के जमाने में कितना अंतर आ चुका है। आज की राजनीति वह राजनीति नहीं रही, जो बाबूजी के समय थी। फिर भी मैंने मीरा की हथेली अपने हाथ में ले गाड़ी चलाते-चलाते मीरा से वादा किया और जिस बात को मैं आजीवन कभी किसी के सामने नहीं खोलना चाहता था, मजबूरन वह सब मीरा को बता गया।

मैंने कहा—तुम विश्वास नहीं मानोगी, जब हम दिल्ली से चले और बाबूजी की समाधि पर गए, तुम बगल में थी और मैंने बाबूजी से आशीर्वाद माँगा। उसके साथसाथ वहाँ खड़े होकर मैंने एक प्रतिज्ञा ली, संकल्प किया—आपके आशीर्वाद से मैं राजनीति में प्रवेश करने जा रहा हूँ, यदि मैंने अपने कामों से आपके नाम के साथ अपने को न जोड़ सका, उसे ऊँचा नहीं उठा सका, यदि मेरी वजह से आपके लिए कोई बदनामी की बात आई, तो मैं अपने आपके पुत्र कहलाने लायक नही समझूँगा।

मेरे विचार इस तरह गड्डमड्ड हो रहे थे उस पल कि मैं अपने को स्पष्ट नहीं कर पा रहा था।

मीरा से अपने को बाँटते मन को हलका करते घड़ी की ओर निगाह डाली—वह सवा एक बजा रही थी।

लखनऊ अभी भी दूर था।

मीरा पर भी मेरे प्रति मोह छा उठा था। उसने बातें करतेकरते पूरी शालीनता के साथ पुन: अपनी हथेली मेरी हथेली पर रखी और कसकर दबाते हुए कहा—मैं आपको अच्छी तरह से जानती हूँ, पर फिर भी मैं जानना चाहती थी कि मैं आपने अपने इस नए जीवन की शुरुआज से पूर्व क्याक्या सोचा?

मैंने आगे जोड़ा—मुझे पूरा विश्वास है और था कि मैं जहाँ भी, जैसे भी रहूँगा तुम सहर्ष, सर्वदा मेरा साथ दोगी, कैसी भी कठिनाई हो मेरे साथ, उसका सामना करोगी। यह सब जानते हुए मैंने फिर भी तुमसे पूछा कि तुम्हें कैसा लग रहा है—यह केवल औपचारिकता नहीं, बस मन बाँटकर जीने की बात है।

मैं जानता हूँ, मीरा ने आज तक ऐसी ही जिंदगी देखी है, जो राजनीति से कोसों दूर की है। उसके पिता सुबह ऑफिस जाते और शाम को घर वापस। मैं भी जब बैंक की नौकरी में था, तो मेरा भी बँधाबँधाया जीवन था। सुबह जाना शाम को वापस आना। कभी-कभी दोपहर को खाने के लिए भी घर आ जाता था।

पर अब जिंदगी कैसी बँट गई है। सारी आदत के बदल जाने के बाद आज भी शाम को वापस न लौट पाने की मेरी कमी उसे खलती है।

उस दिन गाड़ी में बातें करते मैं यह भूल गया था कि मीरा ने शास्त्रीजी को ससुर के रूप में चाहे न देखा हो, पर उसने हमेशा ही श्वसुर के रूप में पाया है। उसने अपने आपको उनकी बहू की श्रेणी में समझा और उसी के अनुरूप गरिमा के साथ व्यवहार भी किया। बातें करतेकरते उसने अपने बचपन का जिक्र किया और कहा—जानते हैं, तब मैं बहुत छोटी थी। बाबूजी प्रधानमंत्री थे और जयपुर आए थे। मैंने उनके आगमन की बात सुनी और उन्हें देखने की इच्छा मन में जागी। बिना किसी को बताए मैं उस जगह गई जहाँ से वे गुजरने वाले थे। जाने क्यों उस समय ऐसा लगा था कि वे अपने ही हैं। वे सामने से निकले, मैं खड़ी थी। गाड़ी उनकी पास आई, मैंने हाथ हिलाया। लगा उन्होंने भी मेरी ओर देख प्रत्युत्तर में हाथ हिलाया। मुझे तब स्पष्ट लगा था जैसे उन्होंने मेरे अभिवादन का जवाब दिया है।

हमारा विवाह 1973 में हुआ, पर यह घटना मुझे गाड़ी में चलते मीरा 1980 में बता रही थी। जैसे वह सबकुछ कहने का मौका अभी आया हो। सात साल तक उसने आवश्यक नहीं समझा कि वह अपने श्वसुर की उपस्थिति मुझसे बाँटकर जी सके। हमने कितनी ही तरह की बातें की होंगी उन सात सालों में; पर आज गाड़ी में चलते नए जीवन के आरंभ में उसका वह कहना—लगा, वह मेरे निर्णय से खुश है।

चुनाव हुआ, परिणाम आए और हमारा जीवन एक नए धरातल पर चलने लगा। मेरी भाग-दौड़ और जनजीवन के जुड़ने से एक ही बात उसे परेशान करती है और वह कहती है, आप दौरे का चाहे जैसा भी कार्यक्रम बनाइए, जहाँ चाहे वहाँ जाइए, पर शाम को लौटकर घर जरूर आ जाइए। जब आप चार-पाँच दिनों तक लगातार बाहर रहते हैं तो घर का वातावरण काटनेकाटने को हो जाता है। घर के माहौल में कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

कैसे बताऊँ मेरे लिए बँधाबँधाया जीवन संभव अब नहीं रह गया है। कई बार चाहते हुए भी, पूरी कोशिश के बाद भी कईकई शामें घर से बाहर रह जाना पड़ता है।

मैं इस कथा से पूरी तरह परिचित ही नहीं, भुक्तभोगी हूँ। हम लोगों को बाबूजी से एक पिता का प्यार, जैसा चाहिए, वह नहीं मिल पाया। बाबूजी से मैं गुस्सा होता था। शिकायत करता था और आज जब मैं खुद कईकई दिनों बाद घर आता हूँ और सोए हुए अपने बच्चों को देखता हूँ तो मेरे मन में सवाल उठता है—क्या ये भी मेरे बारे में

उसी तरह नहीं सोचते होंगे, जैसे मैं अपने बाबूजी के बारे में सोचता था—कैसे पिता हैं कि...!

बाबूजी अनुभवी और ज्यादा दुनिया देखे थे, मैं उनके सामने कितना कम जानता समझता हूँ। उन्होंने कभी जोर से, बिगड़कर गुस्सा हो डाँटफटकारकर कोई बात हम भाईबहनों से कभी नहीं की, उनका बताने, समझाने और काम करने का तरीका ही दूसरा था। मैं तो उतावला, जल्दबाज और गुस्सैल व्यक्ति हूँ। मुझमें वह धीरज है ही नहीं जो बाबूजी में था। बहुत कोशिश करके मैं उस तरह का धीरज अपने में पैदा ही नहीं कर पाया आज तक।

बात उस समय की है जब मुझे टिकट मिल गया और बैंक की नौकरी से इस्तीफा देने की बात आई। इस पल जिस तरह से, जिस ढंग की परिस्थितियों से दोचार होना पड़ा, उसमें बाबूजी का वह धीरज ही काम आया। अगर वह सहारे न आता तो जाने कितनी ही लड़ाइयाँ मैं मोल ले बैठता। बैंक की नौकरी करते कितनी ही तरह के अवाजेतवाजे सुनने को मिलते ही रहे हैं। लोगों को यह अंदाज ही नहीं था कि यह साधारण सा व्यक्ति कभी टिकट पा, चुनाव भी लड़ सकता है। पर मेरी धीरेधीरे यह मान्यता बन पाई थी कि आपके-हमारे जीवन में जो भी बातें अवतरित होती या घटती हैं, उनके गहरे अर्थ होते हैं।

यदि मुझे बैंक की नौकरी न मिली होती, तो मैं उन सारे अनुभवों से वंचित रह गया होता, जो एक औसत व्यक्ति के जीवन में व्याप्त होते हैं। अनुभव पे्ररणा के मूल हैं, जो जीवन को भविष्य में ज्यादा प्रखर, ज्यादा रंगीन, ज्यादा मधुमय बनाते हैं।

मैंने छोटा सा इस्तीफे का पत्र लिखा और कार्यालय में जा अपने वरिष्ठतम अधिकारी का सौंपा। मैं उनके कमरे में था। पाया, वे भी मेरे साथसाथ मेरी ही तरह काफी भावुक हो उठे हैं। मुझे लगा, भावुकता का भी जीवन में काफी महत्त्व है। भावुकता तथा निष्ठा से ही लोगों ने देश की आजादी के आंदोलन में भाग लिया और सैनिक की भावना से ही लड़ते रहे।

वरिष्ठ अधिकारी भावुक हो अपनी कुरसी से उठे और चलकर मेरे निकट आए। ऐसा उन्होंने कभी नहीं किया था। उनके साथ पिछली कितनी ही मुलाकातों की याद ताजा है जब वे अफसर थे और मैं बैंक का साधारण अधिकारी। मैं उनके इस व्यवहारपरिवर्तन की आशा नहीं करता था। उन्होंने स्नेह भरा आशीर्वाद दिया और कामना की कि मैं सफलता की ओर बढ़ूँ। उनके मन में बाबूजी के प्रति श्रद्धा थी और वे कह रहे थे कि शास्त्रीजी के छोड़े अधूरे कामों को सुनील, तुम्हें ही पूरा करना होगा।

वापस जब मैं अपने साथियों के बीच पहुँचा तो उन्हें मेरे उठाए कदम का आभास मिल गया था। जहाँ आप काम करते हैं, दिन के एक लंबे हिस्से में जब लोगों के साथ उठतेबैठते हैं, उन सब के बीच कितनी ही अलगअलग तरह की बातें होतीघटती हैं। कोई आपके बहुत पास होता है तो कोई आप से काफी दूर। कुछ लोगों को मेरे राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने पर हर्ष हो रहा था कि उनके बीच का अपना कोई आगे जा रहा है और वे कभी कह सकेंगे कि भाई, ये तो हमारे अपने ही हैं, किन्हीं औरों को दु:ख भी था कि हमारा आपका रास्ता अलगअलग बँट रहा है, अब आप से हम बिछुड़ रहे हैं। तरहतरह की भावुकता देखने को मिली।

इस सबके साथ मुझे यह भी पूरी तरह से अहसास था कि कई ऐसे भी है, जिन्होंने फब्तियाँ कसी होंगी, चुटकियाँ ली होंगी। वे सारी बातें

मेरे सामने वह सब नहीं कह सके होंगे, पर पीठपीछे तो कह ही रहे थे—अजी देखा! लगीलगाई नौकरी छोड़कर जा रहे हैं। यहाँ तो सफल हुए नहीं, राजनीति में जबरन टाँग अड़ाने जा रहे हैं, वहाँ जब असफलता सिरमौर बनेगी तब पता चलेगा!

कुछ लोगों की कही बातों ने मेरे मन में आक्रोश भी पैदा कर दिया, पर वह समय नहीं था उलटकर कुछ कहने

का। मैं अपना गुस्सा पी गया

और आज वह इतने अरसे बाद सारा भूल गया है। एक ही यह टिप्पणी कि सफलता के नजदीक मैं पहुँचूँ...मैं लगीलगाई नौकरी से हाथ धो रहा हूँ, ने मुझे उत्साहित जरूर किया कि किसी भी तरह अपनी पूरी कोशिश कर सफल जरूर होना चाहिए।

एक सहयोगी जो वास्तव में बहुत निकट थे, उन्हें मैंने इस्तीफा देने से पहले दिखाया था और उन्होंने उस पत्र को हाथ में ले, दो मिनट मेरी आँखों में झाँका था कि ऐसा मुझे लगा। उन्होंने गंभीरता देखा और कहने लगे—कच्ची गृहस्थी है! एक बार फिर से सोच लो। अभी यह सब करने के लिए बहुत लंबी उम्र बाकी है। पर भावुक मन का दृढ़ निश्चय। मुझे स्पष्ट याद है, मैं उन्हें ऑफिस के बाहर ले आया था, क्योंकि ऑफिस में वे सारी बातें संभव नहीं हो सकती थीं।

बाहर फलों की हरी चाटवाला ठेले पर खोमचा लगाता था और उस दिन जेब में थे केवल कुछ रुपए। कहीं किसी रेस्तराँ में जा नहीं सकता था। उस ठेले वाले से दो पत्ते बनवाए और चाट खातेखाते अपने मन की गाँठ को खोलता रहा। अपना मत उनके सामने रखता रहा। ऐसी बातें उनसे एक बार नहीं, पहले भी टुकड़ोंटुकड़ों में कितनी ही बार हुई हैं। अंत में उन्हें भी मेरा फैसला स्वीकार करना पड़ा।

वैसे 1977 में ही सक्रिय राजनीति में आने के लिए मैं आतुर हो उठा था। उस समय और छोटा था। इंदिराजी और संजय गांधी से मिला और लोकसभा के लिए टिकट की इच्छा जाहिर की थी। अवसर आया। इंदिराजी ने बुलाकर मुझे आदेश दिया कि तुम जाकर कांग्रेस अध्यक्ष देवकांत बरुआ जी से मिल लो।

उस दिन, उस समय वे घर के पीछे लॉन में अकेले टहल रहे थे, मैंने नमस्ते की। वे बातें करते रहे। फिर बोले—इलाहाबाद, जो कि बाबूजी का चुनाव क्षेत्र रहा है और जहाँ सन् 1967 में भैया चुनाव लड़ चुके हैं, वहाँ से इस बार तुम्हें चुनाव के लिए नामांकन पत्र भरना है। मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने आगे कहा—प्रचारप्रसार का सारा सामान गाड़ियाँ वगैरह सभी तुम्हारे लिए तैयार हैं। तुम नामांकन पत्र भरकर चुनाव की तैयारी करो।

विश्वास कीजिए, 27 साल की आयु। मुँह खोलते ही लड्डू मिले। एक तूफान सा उमड़ पड़ा मेरे मन के आँगन में। शायद उस पल जिस तरह खुशी का एहसास हुआ वैसा आगे कभी नहीं हुआ था, यहाँ तक कि जब 1980 में टिकट मिला तब भी नहीं।

उस समय इंदिराजी ने मुझे बुलवाया था और जो बातें मैं 196771 से कहता आ रहा था, उसकी यह इतिश्री थी। वैसे सन् 1980 में आदेश तो उनका ही था उसके लिए मुझे चप्पलें रगड़नी पड़ी थीं। भागदौड़ करनी पड़ी थी। वह सन् 1980 का अवसर मेरी माँग पर मुझे मिला था— इसलिए आज 1980 और 1977 की बात में बड़ा फर्क था।

देवकांत बरुआजी से मिल मैं इंदिराजी के पास गया और फिर घर आया। मेरी अम्मा ने मुझसे कहा—बेटे, तुम बहुत जल्दी कर रहे हो राजनीति में आने के लिए।

और मेरा छोटा सा उत्तर—आज नहीं तो कल—बाबूजी के छोड़े अधूरे कामों को हम लोगों को ही पूरा करना है। इसमें जल्दी या देर की बात कहाँ उठती है—काल करे सो आज कर...!

अपनी बात बिना पूरे किए, आसमान छूता मैं लखनऊ आ गया। अभी सही तरह से लखनऊ में जमापहुँचा ही नहीं था कि पीछेपीछे संदेश आया—दिल्ली बुलाया गया है!

साउथ ब्लॉक!

प्रधानमंत्री का कार्यालय। मुझे याद है, इंदिराजी मुझसे वहाँ मिलीं। बोलीं—सुनील, पुनः हम लोगों ने फैसला

किया है कि अभी इस बार युवकों को ज्यादा नहीं लड़ाएँगे। वे जो पुराने अनुभवी हैं, उन्हें ही पार्लियामेंट में लाना चाहते हैं।

मुझे समझते देर न लगी। बाबू जगजीवन राम और हेमवती नंदन बहुगुणा वगैरह ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया था और इंदिराजी यह समझती थीं, उचित होगा कि पुराने अनुभवियों को ही टिकट दिया जाए।

बात देश के हित में थी। वह हुई। मेरे लिए बात वहीं समाप्त नहीं हो जाती। यह एक बहुत बड़ा धक्का था मेरे लिए, जिसे झेल पाने में मेरा युवक मन उस पल तैयार नहीं था। कैसी ठेस लगी थी! आँखों में उमड़ आए आँसू मैंने पिए। इंदिराजी से वह सब छिपा नहीं था।

बैंक!

अभी इस नौकरी में मुझे बहुत कुछ सीखनाकरना शायद बाकी था। इंदिराजी के साथ चुनाव के अनुभव मन के किसी गहन गहरे में सिमटकर रह गए हैं। बैंक में किए गए काम उन पर हावी हैं।

12 मई, 1966!

बैंक की नौकरी का मेरा पहला दिन।

मैंने कहा न, मैं कहीं अधिक भावुक हूँ। बाबूजी की भावुकता और निष्ठा ही मेरे पल्ले पड़ी है। तर्ककुतर्क कोशिश के बावजूद नहीं रसबस पाता और फेल हो जाता हूँ। वैसे ही बाबूजी मुझे बंबड़दास नहीं पुकारने लगे थे। उन्होंने जरूर मुझमें बंबड़पना देखा होगा। तभी डॉक्टर का ख्वाब ले चला पक्षी, सेवाकार्य, राजनीतिक नेतृत्व न कर पा बैंक की अफसरी सँभालने चल पड़ा। बस, कितना अपना 'आपा' और कितना भाग्य का कहा जाए? यही कहकर मन को मार लूँगा कि भाग्य ने मुझे बंबड़दास बना दिया और उस बंबड़दास ने वहाँ भी अपने ढंग का बंबड़दासी रास्ता खोज निकाला। इस सब में अपनी कम, बाबूजी की बात, उनकी सीख ज्यादा थी। वे कहा करते थे, जब भी जहाँ भी मौका मिले, हमें सेवा का अवसर निकाल लेना चाहिए। केवल राजनीति के द्वारा ही सेवा का अवसर नहीं मिलता। सेवा करने के अपने तौरतरीके हैं, जिनके द्वारा जनसेवा का कार्य किया जा सकता है।

इस पर मैं बाबूजी से कहा करता कि बड़े होने पर मैं एक दिन डॉक्टर बनकर दिखाऊँगा, सेवाकार्य किसे कहते हैं। पता नहीं क्यों, किस तरह मन में यह भावना घर कर गई थी। बहुत चेष्टा के बाद भी याद नहीं आता, क्यों और कैसे यह बात मन में आई कि मुझे डॉक्टर बनकर सेवा करनी चाहिए। उस समय डॉक्टर और राजनीति के पेशे में कितना अंतर, क्या फर्क है, वह सब क्या मैं जानता था? शायद नहीं। अमीरगरीब क्या होते हैं, उसकी तमीज भी तो मन में नहीं आई थी। बस एक अनवरत उत्कंठा थी—हम किसी के काम आ सकें। किसी का दु:ख बाँट उसे हलका कर सकें। बीमारी दु:ख है! कष्ट से मुक्ति! कभी बचपन में सिद्धार्थ की कहानी पढ़ी थी। कह नहीं सकता सही तरह से कि वह मेरे आदर्श थे। आज जब पीछे सोचता हूँ तो पाता हूँ, शायद वही रहे होंगे। नहीं तो इस तरह की भावना के बीज कहाँ से मिले। जब आँखें खोलीं तो घर में सबकुछ था। गरीबी! निर्धनता! वह सब मात्र किस्सागोई थी। वे बातें कि अम्मा बाबूजी के जेल चले जाने पर किस तरह गृहस्थी चलातीं! मेरे बड़े भाईबहनों का पेट भरतीं! इन सारी बातों से मेरा सीधा कोई संपर्क नहीं स्थापित हुआ था। इतना जरूर हुआ था कि समयसमय पर

बाबूजी आँख में अंगुली डालकर यथार्थ से परिचय कराने की जबरन कोशिश करते थे। घटनाओं का जिक्र मैं पहले भी कर चुका हूँ। इसलिए कह सकता हूँ कि यह मेरा एक रूमानी अंदाज था डॉक्टरी का लगाव। सेवा का दिखावा तो नहीं कह सकते, पर एक ग्लैमर था, जो मुझे खींचता था—गाँव की ओर, गरीबों की ओर। और वास्तव में गाँव पहुँचा तब सामने आया यथार्थ का कड़वा सच।

उस समय बचपन में तो यही लगता था कि गाँव होगा। वहाँ होगी मेरी बड़ी सी डिस्पेंसरी। हमारे देश के अधिकांश लोगों को कहाँ मिलती है चिकित्सा की सुविधा। मैं बाबूजी से कहता कि अवसर मिला तो नर्सिंग होम बनाऊँगा। वह किसी अति पिछड़े इलाके में होगा। लोगों को मेरे कामों से राहत मिलेगी।

इस तरह की बातें मैं बाबूजी से करता और पाता कि उनकी आँखों में अनोखी चमक जागती है। उस चमक में एक खुशी झलकती है। आज मैं उन आँखों को याद कर उनके भावों को पढ़ने की, पकड़ने की कोशिश करता असफल रह जाता हूँ। मैं आज मानता हूँ कि उन आँखों की चेतना में, जिसे मैं खुशी की संज्ञा देता या देने की कोशिश करता हूँ, वे खुशी के नहीं बल्कि कुछ अधिक गहरे रहस्य भरे 'मिस्ट्री' वाले भाव थे, जिसे उस पल समझ पाना कठिन था। क्या बाबूजी को मालूम था कि जो कुछ भी मैं कल्पना के जाल सरीखा बुन रहा हूँ वह यथार्थ से कहीं कोसों दूर है? मेरी पकड़ से बाहर? शायद हो! तभी उनकी आँखें अधिक रहस्यमय हो उठती थीं— मेरी डॉक्टरी और नर्सिंग होम खोलने की बात पर। बड़ा खेल हुआ। बाबूजी के निधन के साथ मेरी सारी कल्पना, सारी इच्छा मर गई। उस सोलह साल की छोटी उम्र में ही मैं वयस्क हो उठा था। सारा आगापीछा सोचना आरंभ कर दिया था। सारी ऊँचनीच मन में बैठ गई थी, लेकिन इस सब के बावजूद नौकरी से तादात्म्य कर पाना कठिन था। आज अगर किसी को इस तरह की नौकरी मिल जाए तो वह कितना खुश होगा, कैसा भाग्यशाली अपने आप को समझेगा, लेकिन एक मैं था जिसे बैंक की एप्रेंटिशशिप मिली थी और मेरी आँखों से आँसू ही नहीं गिर रहे थे, बल्कि मेरा कलेजा भी रो उठा था।

दफ्तर का पहला दिन।

घर छोड़ने, घर से निकलने से पहले अम्मा मुझे बाबूजी के कमरे में ले गईं। वहाँ उन्होंने बाबूजी की खड़ाऊँ और उनके अस्थिकलश के समक्ष प्रणाम करने को कहा और मैं अपने आप को न रोक सका। अम्मा से लिपटकर रो पड़ा। मन ने ललकारा—बस इसी बूते पर जूझने निकलने वाले थे। पर मैं मन की भी मानने को तैयार नहीं था। मैं तो अपने भाग्य के लिए रो रहा था। वह सारे सपने जो बोए थे और भाग्य ने क्यों वह सारा कुछ मुझसे छीन लिया?

अम्मा के गले लगा रो रहा था और वे बड़े प्यार से मेरी पीठ थपथपाते मुझे सांत्वना और साहस दे रही थीं। कह रही थीं—बेटे! तुमने तो संकल्प लिया था न सेवा का, फिर उसे हर जगह, हर पहलू से पूरा करना होगा, यह तुम्हारी परीक्षा की ही नहीं, अध्ययन और शिक्षा का अवसर है तुम्हें जीवन से सीखना है। अनुभव लेना है।

मेरी दोनों बहनों और घर के दूसरे लोगों ने गीली आँखों से मुझे विदा किया।

वहाँ दफ्तर में पहले ही दिन से जो स्नेह और सम्मान मुझे साथ के सहयोगियों से मिला, वह सीधे मेरा सम्मान नहीं था। उसमें कहीं बाबूजी का सम्मान और आदर जुड़ा था। मैं दिवंगत प्रधानमंत्री का बेटा हूँ। वह, जिन्होंने देश को नई राह दी है और असमय में ही काल-कलवित हो गए हैं। उस स्नेह और सम्मान ने रक्षा का भार मुझ पर लाद दिया था। मुझ यह अहसास पलप्रतिपल कराया जाता था—यानी मेरे अपनेपन की स्वतंत्रता मुझे नहीं रह गई थी। मैं जैसा चाहूँ वैसा करने को स्वतंत्र नहीं था और कभी मैंने अपनी स्वतंत्रता के तहत कुछ किया या करने की कोशिश

की तो तुरंत उसका फल भुगतना पड़ा है। मुझ पर अनचाहे ही अंकुश लगा दिया गया है।

जितने दिन मेरी ट्रेनिंग चली, सच बताऊँ, उतने दिनों ट्रेनिंग कम बल्कि बाबूजी के साथ घटीघटनाओं, उनके साधारण, सादे जीवन के बारे में लोग खोजखोज कर जाननेसुनने की बातें करते। बारबार उन घटनाओं को बताने, सुनाने, दोहराने में मुझे कभी किसी तरह का कष्ट नहीं अनुभव हुआ, बल्कि पुन:पुन: वर्णन करते उन तथ्यों के नए अर्थ खुलने लगे। चूँकि ईश्वर की दी बुद्धि की कुशाग्रता ऐसी है कि बात एक बार ही मन में उतर आती है, कंठस्थ हो जाती है अत: अधिकारियों को ऑफिस के रुटीन कामों के बारे में एक बार से अधिक बताने की आवश्यकता ही कभी नहीं पड़ी। जिन कामों को जाननेसमझने में औरों को चार दिन लगते थे, उसके लिए मुझे चार घंटे से अधिक समय कभी लगा ही नहीं। इसलिए समय की कमी मैंने कभी महसूस ही नहीं की। हाँ, यह जरूर हुआ कि जल्द काम निबटाने की वजह से मुझे औरों के काम के बोझ को भी वहन करना पड़ा। आदतन वह सब मैंने बिना किसी उज्र के स्वीकार किया।

जल्दी ही यह अनुभव भी घर करने लगा कि यह सारा कामकाजी क्षेत्र बहुत छोटा है, सीमित है। मुझे एक बड़े परिवेश की तलाश करनी होगी। इस बँधीबँधाई जिंदगी से निकलना होगा। मुक्ति पानी होगी।

मुक्ति की तलाश साधारण नहीं होती। जीवन में शॉर्टकट नहीं होता। सारी लगन, सारी चेष्टा के बावजूद अगर कोई कमी रास्ते में आती थी तो वह थी उम्र। ऐसी नहीं थी कि लोग जोखिम का भार मेरे कंधे पर डालते। सभी कहते—अभी बड़ी कच्ची उम्र का है सुनील! और मेरे लिए सभी कुछ पर इतिश्री लग जाती। इस 'दि एंड', पर इतिश्री से छुटकारा पाने की राह बड़ी ही भयावह और दुखदायी रही है।

याद होगा आपको भी, वह 19 जुलाई, 1969 का दिन, जब प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने देश के बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने की घोषणा की। बैंक जो कल तक कुछ लोगों की संपत्ति थे, कुछ लोगों को ही उससे सीधा लाभ होता था, या सीधे वे ही लोग उससे लाभ उठा पाते थे जिनके पास बैंक का कंट्रोल था, वह आज खत्म हो गया।

मेरे कार्यालय में एक पत्रकार बंधु आए। उन्होंने जाने कैसे या क्यूँ औरों के साथ मुझसे भी बातचीत की और पूछा—बैंको के राष्ट्रीयकरण पर आपके विचार क्या हैं? आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

मेरा बैंक भी उनमें से एक था जिनका राष्ट्रीयकरण हुआ था। राष्ट्रीयकरण की सफलता के संबंध में लोग तरहतरह की अटकलें लगा रहे थे। उस पल किसे विदित था कि इसका कितना व्यापक असर होगा? फिर भी वह सब उस समय, उम्र में न जानते हुए भी मेरे मन में अपने आप का प्रतिक्रिया उठी, कहा—जो पूँजी अब तक कुछ गिनेचुने हाथों में थी, वह अब जनजन तक लोगों में पहुँच सकेगी। जो सपना हमारे प्रधानमंत्री का है, वह अवश्य फलीभूत होगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

सन् 1971 दिसंबर का महीना। कल तक मैं कनॉट प्लेस की शाखा में एकाउंटेंट के पद पर था कि मुझे उत्तर प्रदेश के एक छोटे से कस्बे काकोरी में ब्रांच मैनेजर बनाकर भेज दिया गया। उस पल अपनी इस नियुक्ति को मैंने उस दृष्टिकोण से नहीं लिया था जैसा वहाँ पहुँचने के बाद अनुभव हुआ।

समय आपको क्या नहीं सिखा देता। काकोरी, एक कस्बा, एक पिछड़ा हुआ देहाती इलाका। दिल्ली छोड़ने का, सबसे कट जाने की दुविधा!

निकटता से गाँव का परिचय। वह जो एक रोमांटिक लगाव था, यह यथार्थ की कड़ी चट्टान पर जब जीने की

बारी आई तब आटेदाल का भाव मालूम पड़ा। निर्धनता और पिछड़ेपन को किताबों में पढ़कर या सुनसुनाकर नहीं जिया या समझा जा सकता। सच कहूँ, आरंभ में मुझमें एक पलायन की प्रवृत्ति चिपक गई थी। फलस्वरूप लखनऊ से 1516 किलोमीटर की यात्रा हर रोज होने लगी। जरा सा अवसर आया कि हम लखनऊ में हाजिर हैं।

एक दिन गाड़ी छूट गई, लखनऊ न जा सका। मन मारकर वापस लौट आया और उदास, समय काटने के लिए घूमता रहा कि यूँ ही एक पेड़ के नीचे रुका और एक चटखनासा लगा। लगा जैसे यह पगडंडी, ये खेत, ये जो अपने चारों ओर है, वे मुझसे बातें करते अपनी ओर खींच रहे हैं। उन सबको, जिसे पराया समझ अलगअलग जी रहा था, उन सबके साथ अपने का एडजस्ट नहीं कर पा रहा था, वे आज एक पल में एक नया अर्थ लिये सामने खड़े हैं।

याद आया, जब बाबूजी की आज्ञा से मैं भोपाल के पिछड़े इलाके में गया था और बाबूजी ताशकंद चले गए थे—उस पल भी तो मैं गाँव में था। इससे कहीं ज्यादा, कहीं अधिक पिछड़े इलाके में—उस समय गाँव वालों से की बातें, उनसे किए गए वादे—क्या हो गया उन सबका!

सटाकसटाक जैसे कोई बेंत से उधेड़ रहा था। तुम्हें यों ही जबरन सजा देकर नहीं भेजा गया है काकोरी में!

बचपन में यह नाम तो सुना है सुनील, तुम्हारा नाम? मन के इस अचानक किए गए प्रश्न पर याद आया : अरे हाँ, बाबूजी कभी काकोरी डकैती की बात करते रहे हैं। ट्रेन की डकैती। अंग्रेजों का खजाना लुटा था यहाँ कहीं। यह तो वही काकोरी है क्या?

मन में आरा मशीन सा द्वंद्व चल पड़ा।

मैंने कहा न, जीवन के हर मोड़ का कोईनकोई गहन अर्थ होता है और आज अचानक ऊहपोह में मन ने एक नया आयाम खोल दिया।

कल तक जिन लोगों को गाँव का पिछड़ा मानकर मैं अपने को बचाता, अफसर बना फिर रहा था, वह दूरी अपने आप टूट गई थी।

लगने लगा जैसे ये सारे अपने परिचित हैं। जन्मजन्मांतर के परिचित, एकदम अपने!

यह जो सामने पगडंडी दिखती है, उसकी धूल जैसे उठाकर सिरमाथे पर लगा लेने की इच्छा जागी। वह जो महिला सिर पर घड़ा रखकर आती दिखी, वह केवल महिला ही नहीं रह गई थी, वह उस सारे कुछ का एक अभिन्न अंग थी और मैं बजाय घर लौटने के गाँव के सरगना कॉमिल खाँ से मिलने गया। वे टाउन एरिया के अध्यक्ष थे।

कामिल खाँ साहब मोहम्मद सब्बीर साहब के पास ले गए थे। उन दोनों को आश्चर्य था कि मैं वह पुराने पचड़े क्यों उखाड़ रहा हूँ, जिसके बारे में अब कोई जाननासुनना नहीं चाहता। वे टाल जाना चाहते थे। लेकिन मेरी उतावली, उत्कंठा से वह पार नहीं पा सके। उस जगह ले गए, जहाँ रेलवे लाइन के पास एक मिट्टी का ढूह खड़ा है। बोले—लो, देख लो, यही है काकोरी की अनोखी विरासत, यहाँ ट्रेन को लूटा गया सरकारी खजाने का बक्सा रखा गया था, उन सिरफिरे आजादी के दीवानों के द्वारा। लोग इस जगह को भूल न जाएँ, हमने बरसों पहले इसे मिट्टी के ढूह से ऊँचा कर दिया है। पर जनाब, आप ही पहले स्वतंत्रता सेनानी के बेटे हैं, जो इसे खोजते हुए यहाँ तक आए हैं।

मैं अपनी प्रशस्ति सुनने तो वहाँ तक नहीं आया था। उन्हें चुप करा दिया और आगे बढ़ उस ढूह पर सिर रख दिया अपना। जैसे वह पल, वह इतिहास मेरा अपना हो उठा था, मैंने वह सब जिया।

एक चुनौती मन में खड़ी हुई। प्रश्न उठा, तुम इसके लिए क्या कर सकते हो, सुनील? और जवाब बना : मैं-मैं

क्या कर सकता हूँ। यहाँ रहा तो इसे ईंट का पक्का निशाना बनाऊँगा।

कहने का मतलब सिर्फ इतना कि काकोरी जैसे खून में रसबस गया और इसे समय की मार देखिए, जब राजनीति में आया तो 1983 में प्रधानमंत्री इंदिराजी को वहाँ ले जाकर एक मेमोरियल का शिलान्यास करवाया।

आप भी आश्चर्यचकित होते वहाँ जाकर! इतना बड़ा कांड, एक ऐसा ऐतिहासिक क्षण, जिसने सारे देश को हिला दिया, उसकी स्मृति में स्वतंत्र भारत में एक मिट्टी का ढूह खड़ा था—और कुछ नहीं।

कुछ और करना होगा।

सोमवार। बैंक खुला। मैंने रजिस्टर पलटे। पाया—हम जिसके, जिनके लिए यहाँ भेजे गए हैं, क्या उन सबके काम आ रहे हैं?

ढूह के सामने खड़े होकर जो संकल्प मन में जनमा था, उसके फलस्वरूप कल के देखेमिले लोग—राज, कल्लू, कैलाश, दिनेश—सब एक नए अर्थ लिये सामने दिखे और उस ग्रामीण अंचल ने जैसे मुझे अपने आप में आत्मसात् कर लिया था। उस सबसे क्या वहाँ से चले आने के बाद भी उनसे मुक्ति पाई जा सकती है? नहीं, शायद कभी नहीं, इस जीवन में क्या अगले जीवन में जन्म-जन्मांतर कभी नहीं, यदि आप अवतारवाद में विश्वास रखते हैं, और मैं भी रखता हूँ।

काकोरी की नियुक्ति मेरे लिए कई मायनों में एक बहुत बड़ा उपहार था। एक पल में बाबूजी के नारे 'जय जवान, जय किसान' ने सही घर बना लिया था, राष्ट्रीयकृत बैंक का प्रबंधक, किसानों की जयजयकार करने वाले का पुत्र—उसके लिए अवसर था—फसली ऋण, बैलों की जोड़ी के लिए ऋण, पंपसेट के लिए ऋण।

सीधेसादे लोग कागजपत्तर से डरते हैं। बैंक में जाने से डरते हैं, फिर भला ऋण लेने, बैंक से सेवा लेने क्यों और कौन आता? बैंक को वहाँ जा, उन्हें समझाना चाहिए, उनके अधिकार को बताना चाहिए।

आप प्रबंधक हैं तो क्या हुआ, गाँव में मोटरगाड़ी नहीं चल सकती। आपको पैदल जाना होगा। ज्यादासेज्यादा आप अगर किसी वाहन का उपयोग कर सकते हैं तो वह है साइकिल का। साइकिल भी उनकी दृष्टिकोण से बड़ी चीज है और आदमी को आदमी से अगल करती है। इसलिए उनका अपना बनने के लिए आपको उनकी ही तरह उनके पास जाना चाहिए। गाँव ने मुझे यही सिखाया।

मैंने सीखा, रामअवध के पास जा उससे परिचय पा, उसे अपना कैसे बनाया जा सकता है। गाँव वाले बड़े अनोखे लोग हैं। वे अपनी पर आ जाएँ तो आप यह अंदाज नहीं लगा सकते कि उनका सच क्या है? वे हर गैरत में जीना चाहते हैं। बस कह देते हैं—कोउ नृप होउ हमैं का हानी! और हर दशा में अपनी सी चलाते जाते हैं, उसमें भी हँसते, मौज से जिंदा हैं। इस सबके चलते मेरी क्या बिसात थी कि मैं रामअवध के काम का बन सकता या उसे अपना बना, उसकी मदद कर सकने का अवसर पा सकता।

उसने अपनी जमीन गिरवी रख छोड़ी थी। बैल भी गिरवी थे उसके। उसे वहाँ से उबारना था। बैंक का ऐसा मैंडेट था और मैंने वहाँ रहकर जो सीखा, जो अनुभव किया सक्रिय राजनीति में आने पर, वह सारा कुछ स्कूल में पढ़े पाठ की तरह काम आया। इसलिए लाखलाख शुक्र है उस ईश्वर का, जिसने जीवन ही नहीं दिया, अवसर भी। हमारा फर्ज बनता है उस अवसर से लाभ उठाने और विरासत में पाए दायज को आगे बढ़ाने का।

बाबूजी ने पंडिज नेहरू से पाई विरासत को ठोस जमीन प्रदान की, उसे आगे बढ़ाया और सौंप गए आने वाले लोगों को, वह सारा कुछ जो एक बुलंदी में बदल गया।

मेरी यात्रा उसी बुलंदी की खोज है और उसे पाने के लिए मैं बँधे-कसे जीवन से बेजार होकर यदि बाहर आया तो वह कोरी प्रक्रिया नहीं थी, बल्कि मेरे सामने बड़ों का दिखाया मार्ग है, और अब तक आप परिचित हो चुके हैं कि

वह मुझे किस तरह विरासत में मिला है।

काश, बाबूजी ने ताशकंद जाने से पहले मुझे अपना निजी काम न सौंपा होता, न कहा होता कि 'आप यदि दस हजार रुपए भी इकट्ठा कर लाएँगे अपनी मध्य प्रदेश, पिछड़े इलाकों की यात्रा के बीच, तो हम आपकी काफी तारीफ करेंगे', तो शायद मुझमें उनका वह पानी नहीं चढ़ा होता! काश, वह परची जो मैंने उनकी समाधि से न उठाई होती या उस तरह चुनाव में जाने से पूर्व अम्मा मुझे वहाँ समाधिस्थल पर न ले गई होतीं या कि अम्मा ने यह न कहा होता कि जब भी मैं कठिनाई में होती हूँ तो तुम्हारे बाबूजी से जवाब पूछती हूँ—वह सारा कुछ मेरे शरीर में, मेरे खून में रचबस गया है और मेरी यह बलवती इच्छा कि मैं औरों के काम आ सकूँ , मुझे मजबूर करती है कि मैं अपनी कमजोरियों को, अपने मन की यात्रा को आपके साथ बाँटकर जिऊँ—आप मेरी इस यात्रा के साक्षी हैं। मेरी शक्ति जनता की शक्ति है और उससे मुँह मोड़ना संभव नहीं।

फिर आगे निकलने की आपाधापी में जब मेरे अधिकांश साथियों ने पद की घिनौनी होड़ में अपना सबकुछ ताक पर रख दिया और मुझसे भी यह आशा ही नहीं रखने लगे, बल्कि खींचखाँचकर मुझे भी अपनी तरह बना डालने पर अमादा हो गए, तो मैंने पाया, बाबूजी मेरे सहारे के लिए खड़े हैं।

मैं लखनऊ से भागकर दिल्ली आया था। अपनी व्यथागाथा को घर में सभी के सामने रखा और तभी उस शाम को पुन: बाबूजी की समाधि पर था। कोई बात स्पष्ट नहीं हो रही थी—मैंने अपना सिर समाधि के पत्थर पर रखा था। जाने कितनी देर उसी अवस्था में अपने से लड़ता जूझता रहा।

तीनों पुत्र और पुत्रवधुएँ- बाएँ से,वैभव, पूजा, विनम्र, जया, विभोर, रोशनी।

जब इंदिराजी ने गोरखपुर से नामांकन की आज्ञा दे दी थी, तब भी इसी तरह से यहाँ आया था। उस दिन आज का दिन कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं था।

काफी देर बाद जब मैंने सिर उठाया तो पाया, वहाँ समाधिस्थल पर पड़ी फू लों की एक पँखुड़ी मेरे माथे पर चिपकी है। मैंने लौटकर मीरा से उस चिपकी गुलाब की पँखुड़ी का अर्थ बाँटना चाहा और उसने भी यही कहा, यह पँखुड़ी आपके बाबूजी का आशीर्वाद है। उस पँखुड़ी को मैंने अपने पर्स में रख लिया और लखनऊ आ अपना इस्तीफा लिख भेज दिया है। इस संकल्प का जामा बाबूजी अपने हाथों मुझे ताशकंद से पूर्व पहना गए थे और फिर उनसे कभी मुलाकात न हो सकी—मैं उनको लेखाजोखा नहीं दे सका—इसलिए उनसे किए वादे पर खरा उतरने के लिए मुझे आप सबका सहयोग, आप सबका सौहार्द्र चाहिए।

दादू और दादी के साथ –वेहान, जान्या, इवाना, विवान और विधात्र।

मेरा अपना क्या है! दो वक्त की रोटी के लिए तो यह सब नहीं किया है मैंने। मेरा जो कुछ भी था या है, वह जनमानस को समर्पित है और उस समर्पण के पीछे रचनात्मकता ही मेरा मूल है। पलप्रतिपल रचनात्मक रह सकूँ, इसके लिए जो भी बलि देनी पड़े, जो भी त्याग करना पड़े, मैं अपने को तैयार कर सकूँ, यही मेरा अर्थ है, यही मेरा धर्म, यही मेरा सम—यह मूलमंत्र मुझे बाबूजी से मिला है—लाल बहादुर शास्त्री—मेरे बाबूजी! उस विशाल परिवार के बाबूजी, जिसका मैं भी एक बेटा हूँ, मुझे स्वीकारें!